Chapter-3

अध्याय : ३ :: सामाजिक समस्याएं ::

:: अध्याय : 3 ::

:: सामाजिक समस्याएं ::

पूर्ववर्ती अध्ययायों में निर्दिष्ट किया जा चुका है कि आलोच्य-काल के ग्रामभित्तीय उपन्यासों में सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक, शैक्षणिक, मनोवैज्ञानिक, सांस्कृतिक प्रभृति समस्याओं की विविध कोटियां समेकित हैं। प्रस्तुत अध्याय में स्वातंत्र्योत्तर काल के ग्रामभित्तीय उपन्यासों में आकलित सामाजिक समस्याओं पर विचार किया जा रहा है।

वस्तुतः यह तथ्य गौरतलब है कि उपर्युक्त सभी कोटियों की समस्याएं भी परस्पर गुंथी हुई और एक-दूसरे से व्युत्पन्न हैं। सामाजिक समस्याएं आर्थिक और मनोवैज्ञानिक समस्याओं को जन्म देती हैं, तो कई बार आर्थिक व मनोवैज्ञानिक समस्याएं नयी सामाजिक समस्याओं को जन्म देती हैं। जैसे रांगेय राघव कृत "कब तक पुकारूं" के सुखराम की समस्या उसकी जगी हुई चेतना की समस्या है। अपने मन में उद्भूत विचारों से वह परेशान है। वह अपने को एक नट नहीं, वरन् अधूरे किले का स्वामी और ठाकुर समझता है। अन्यथा उसीके वर्ग के अन्य लोगों को यह सोच-विचार की बीमारी {1} नहीं है। उनके साथ जो घटित होता है, उन्हें जो रात-दिन प्रताड़ित किया जाता है, एक सामाजिक अवहेला के तहत उन्हें जो निरंतर कुचला जाता है, उसका एहसास ही उन्हें नहीं है। बल्कि इस चेतना को वे खो चुके हैं। उनकी चेतना के नथुनों में शोषण-मूलक उत्पीड़क परंपराओं की नकेल जो पड़ी है, उसने उन्हें जानवरनुमा बना दिया है। उसे ही वे अपनी नियति, अपना भाग्य समझते हैं। और तब चेतना की यह दुहरी मार उन्हें नहीं पड़ती। सुखराम के माता-पिता, इसीला, सोनो, प्यारी, धूपो, बांके, प्रभृति पात्र इस चेतना की मार से अलग हैं। और इसलिए उनका उत्पीड़न केवल शारीरिक धरातल तक महदूद है। परंतु सुखराम तो शारीरिक एवं मानसिक दोनों दृष्टियों से उत्पीड़ित रहता है, क्योंकि जैसे ऊपर कहा गया, अपने मन में वह ठाकुर होने का भ्रम पाल रहा है। इस जातिगत दर्प-स्फीति

से उत्पन्न कुंठा के कारण वह निरंतर दुःखी रहता है । उच्चवर्गीय समाज एवं स्वयं नट-समाज भी उन्हें पददलित समझता है । वे समझते हैं कि उनकी कोई नैतिकता नहीं है । उनकी स्त्रियां किसीसे भी यौन संबंध स्थापित कर सकती हैं । उपन्यास में एक स्थान पर सोनो प्यारी से कहती है — " 'जानती है सिपाही क्यों आया था ?' ' जानती हूं ।' प्यारी ने कहा —' दरोगा मुझे दिन में घूर रहा था । मरे की तबीयत आ गई है , पर सुखराम तो न मानेगा ।' ' नहीं मानेगा ?' अरी यह तो औरत के काम हैं , उसे बताने की जरूरत ही क्या है ।'' सो तो है , पर वह बुरा समझेगा न ?' ' औरत का काम औरत का काम है , उसमें बुरा-भला क्या ? कौन नहीं करती ? नहीं तो मार-मार कर खाल उड़ा देगा दारोगा । और तेरा बाप और खसम दोनों को जेल में भेज देगा । फिर कमेरा (पति) न रहेगा तो क्या करेगी ? फिर भी तो पेट भरने को यही करना पड़ेगा । " [1]

समाज की इस खानाबदोश नट जाति की इस सामाजिक दुर्गति का कारण उपर्युक्त संवाद की अंतिम पंक्ति में ध्वनित हो गया है — " फिर भी तो पेट भरने को यही करना पड़ेगा । " अभिप्राय कि उनकी आर्थिक अवदशा , सैकड़ों वर्षों से समाज के अन्य वर्गों पर की उनकी निर्भरता ही इन सब गलीच स्थितियों का उत्स है । तभी तो सुखराम कहता है — " हमारे पास जमीन नहीं , कुछ नहीं । आसमान के नीचे सोते हैं , धरती हमारी माता है । हम घास की तरह पैदा होते हैं । रौंदे जाते हैं । हमारी औरतों को पुलिस के सिपाही दूब समझकर चर जाते हैं । और फिर हमारे पास क्या है ? कुछ नहीं । "[2]

अतः यहां मनोवैज्ञानिक , सामाजिक , आर्थिक सभी समस्याएं एक-दूसरे में अनुस्यूत हैं ।

प्रगतिवादी दृष्टि संपन्न लेखक जगदीशचन्द्र कृत "धरती धन न अपना " उपन्यास में व्यंजित तमाम सामाजिक समस्याएं भी कहीं-न-कहीं दूसरे प्रकार की समस्याओं से संपृक्त अवश्य हैं । प्रताड़नाओं और अवमाननाओं से तंग आकर काली शहर भाग जाता है , और कुछ वर्षों बाद थोड़ा-बहुत कमाकर अपने गांव घोड़ेवाहा लौट आता है । कुछ रकम मकान के निर्माण-कार्य में और कुछ चोरी चली जाती है । ऐसे अन्ततः वह भी गांव के दूसरे चमार-युवकों की पंक्ति में ही आ जाता है । उपन्यास का एक पात्र छज्जू शाह ठीक ही

कहता है कि " चमार की खुशहाली उसकी जवानी की तरह चार दिन की ही रहती है । " [3]

यहाँ प्रेमचन्द की एक कहानी स्मृति में कौंध जाती है । कहानी का शीर्षक है — " माँ " । उस कहानी में करुणा का पति आदित्य एक स्वातंत्र्य-सेनानी है, और स्वाधीनता-संग्राम के दौरान उसे तीन साल की सज़ा हो जाती है । उस अवस्था में करुणा अपने अलंकार-गहनों को बेचकर कुछ गाय-भैंसे खरीद लेती है, और इस प्रकार अपने बेटे का पालन-पोषण करती है ।[4] जबकि यहाँ काली के पास एक अच्छी-खासी रकम के होते हुए भी अंततोगत्वा उसे मजदूरी ही करनी पड़ती है, क्योंकि वह जातिगत कुण्ठा से ग्रस्त है । चमार होने के नाते गाँव के सब लोग उसे हेय नज़रों से देखते हैं । पक्का मकान बनवाकर वह उन्हें दिखा देना चाहता है । गाँव में जहाँ चमारों के मकान घास-फूस और मिट्टी के होते हैं, वहाँ ईंट और मिट्टी के गारे का मकान भी प्रतिष्ठा का प्रतीक बन जाता है । ऐसा मकान भी उनके लिए तो सपनों की चरम-सीमा समान होता है । काली गाँव तथा अपने जाति-बिरादरों में इसीलिए संपन्न माना जाता है कि वह शक्कर पीता है और गेहूँ की रोटी खाता है । इन पंक्तियों के लेखक को आज भी वह वाक्य याद है, जिसमें कहा गया है — " बांकी-चूकी भी गेहूँ की रोटी ! " गाँवों में गेहूँ की रोटी को खाना भी संपन्नता में माना जाता है । यों सब लोगों की दृष्टि में संपन्न काली भी अंततः विपन्न अवस्था को प्राप्त होता है, क्योंकि उसकी आत्म-कुंठा उसे ले डूबती है । इस आत्म-कुण्ठा के मूल में फिर सामाजिक स्थितियाँ हैं और इन सामाजिक स्थितियों के पीछे सहस्त्राधिक वर्षों की आर्थिक विपन्नता एवं परावलंबिता कारणभूत है ।

आर्थिक उन्नति से सामाजिक-स्तर में थोड़ा-बहुत परिवर्तन तो आता ही है । उपर्युक्त उपन्यास में भी काली को गाँव के अन्य चमार युवकों से भिन्न दृष्टि से देखा जाता है । चौधरी हरनामसिंह जो बात-बेबात दूसरे चमारों को "साला कुत्ता-चमार " कहता रहता है, वह भी काली के साथ इस तरह पेश नहीं आता । छज्जू शाह भी उसकी इज्जत करता है । परंतु वही काली जब सबकुछ लूट-लुटवाकर उनकी पंक्ति में बैठ जाता है, तब उसकी उपेक्षा शुरू हो जाती है । जो जीतू पहले उसे "काली बाबू" कहता था, अब सिर्फ काली कहता

है । इस प्रकार सामाजिक स्तरीयता एवं संपन्नता अपरिहार्य-सी हो जाती है । तात्पर्य कि ये सभी समस्याएं समाज में श्रृंखला की भांति होती है । एक की कड़ी दूसरी से मिलकर ही यह श्रृंखला तैयार होती है ।

यह पहले ही निर्दिष्ट किया जा चुका है कि हिन्दी का प्रथम उपन्यास "भाग्यवती" [पंडित श्रद्धाराम फल्लौरी] आधुनिक काल की एक ज्वलंत सामाजिक समस्या को लेकर लिखा गया है, और वहीं से लाला श्रीनिवासदास, पंडित बालकृष्ण भट्ट, अयोध्यासिंह उपाध्याय, मन्ननद्विवेदी, मेहता लज्जाराम शर्मा प्रभृति लेखकों से होती हुई समस्यामूलक उपन्यासों की धारा प्रेमचन्द युग में आकर एक महानद का स्वरूप धारण करती है । प्रेमचन्द * - युग का शायद ही कोई लेखक बचा होगा जिसने तत्कालीन सामाजिक समस्याओं को लेकर उपन्यास की रचना न की हो । यहां तक कि वृन्दावनलाल वर्मा तथा आचार्य चतुरसेन शास्त्री जैसे ऐतिहासिक उपन्यासकारों ने भी कतिपय सामाजिक समस्या-प्रधान उपन्यास दिए हैं, जिनका उल्लेख पूर्ववर्ती पृष्ठों में किया जा चुका है ।

इस प्रकार हिन्दी उपन्यास-उत्थान के प्रथम सोपान [पूर्व-प्रेम चन्द -युग], प्रेमचन्द-युग तथा प्रेमचन्दोत्तर युग में अद्यावधि जिन उपन्यासों में सामाजिक समस्याओं का निरूपण मिलता है ; उनके मूल में कुछ सामाजिक-सुधारवादी आंदोलन हैं, जिनके कारण लेखकों को एक विशिष्ट दृष्टि मिली, जिसके तहत वे अपने समाज में व्याप्त अनेक कुरीतियों तथा अत्याचार के चक्रव्यूहों को देख-समझ सके । " हिन्दी के आरंभिक उपन्यासकार सुधारवादी आंदोलनों से बहुत प्रभावित रहे हैं । स्वयं प्रेमचन्द पर आर्यसमाज के आंदोलन का बहुत प्रभाव रहा है । प्रेमचन्द के समकालीन राजा राधिकारमण प्रसादसिंह, चतुरसेन शास्त्री, वृन्दावनलाल वर्मा आदि आर्यसमाज की नारी-संबंधी तथा छुआछूत विरोधी नीतियों के समर्थक रहे हैं । अप्रत्यक्ष रूप से इन लेखकों ने साहित्य के माध्यम से सामाजिक कुरीतियों, धार्मिक संकीर्णता आदि के विरुद्ध चल रहे आंदोलन को सहयोग दिया है । इस युग के लेखकों पर राष्ट्रीय स्वाधीनता-संग्राम का गहरा प्रभाव रहा है । इस युग का कोई ऐसा लेखक नहीं है, जो इस आंदोलन से प्रभावित नहीं हुआ हो । " [5]

वस्तुतः ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज तथा प्रार्थनासमाज जैसे सुधार-

वादी आंदोलनों ने ही राष्ट्रीय स्वाधीनता-संग्राम के लिए एक विशिष्ट पृष्ठ-भूमि को तैयार किया था । अतः आधुनिक चेतना के अग्रदूत राजाराममोहन राय, आर्यसमाज के स्थापक व उद्घोषक महर्षि दयानंद सरस्वती, प्रार्थनासमाज के स्थापक केशवचन्द्र सेन प्रभृति महानुभावों का भारतीय जन-जागरण के सम्बन्ध में योगदान किसी लिहाज़ से कम नहीं है । वस्तुतः समाज की सच्ची समस्याओं की तह तक पहुंचने की दृष्टि इन्हीं के चिंतन-विमर्श-संघर्ष का परिणाम है ।

राजा राममोहन राय का युग पश्चिम की उदीयमान पूंजीवादी सभ्यता तथा भारत की ~~ह्रासो~~ ह्रासोन्मुखी सामन्ती सभ्यता के संघर्ष का युग था । राजा राममोहनराय ने एक युगद्रष्टा की भांति इस संघर्ष को देखने के बाद अपना एक अलग मार्ग तय किया जो पूर्व-पश्चिम की वैचारिक, सामाजिक, धार्मिक प्रवृत्तियों के बीच मध्य में कहीं स्थित है । उनके ही प्रयत्नों से सतीप्रथा पर कानूनन प्रतिबंध लग गया । इसे भारतीय इतिहास की एक महत्वपूर्ण घटना कह सकते हैं, क्योंकि उससे युगों से संगठित रूढ़ियों की ताकत को एक जबरदस्त धक्का लगा । राजाराममोहन राय ने बहुविवाह प्रथा (कुलीन प्रथा) का भी विरोध किया और नारी-अभ्युत्थान तथा उसकी स्वाधीनता के लिए भी आंदोलन चलाए । उसी प्रकार महाराष्ट्र में "परम हंस" नामक एक गुप्त संस्था थी, जो सामाजिक सुधार से संबंधित कुछ कार्य किया करती थी ~~क~~ । फर्कुहर के अनुसार इस संस्था का वही सदस्य हो सकता था, जो ईसाई तथा ~~मुसलमानों×के×हाथों~~ मुसलमान के हाथों बना भोजन करने को उद्यत हो ।[6] सन् 1867 में प्रसिद्ध सुधारक केशवचन्द्र सेन की प्रेरणा से इसी संस्था से "प्रार्थना-समाज" का जन्म हुआ, जिसके चार मुख्य उद्देश्य थे — जाति-व्यवस्था को समाप्त करना, विधवा-विवाह, नारी-शिक्षा के लिए रात्रि-पाठशालाओं को चलाना; बाल आश्रमों, विधवा आश्रमों की स्थापना तथा नारी-शिक्षा के लिए महिला-संघों की स्थापना करना । प्रार्थना-समाज की सबसे बड़ी विशेषता इसमें थी कि उसने धार्मिक तत्वों को सामाजिक क्षेत्र में प्रवेश नहीं होने दिया, इतना ही नहीं, "समाज" ने ब्रह्मसमाज की भांति अधिक पश्चिम-परस्त होना भी उपयुक्त नहीं समझा, साथ ही आर्य-समाज की तरह प्राचीनता की भी ज्यादा गुहार नहीं लगाई ।[7]

सन् 1875 में आर्य-समाज की विधिवत् स्थापना हुई । इस 19वीं शताब्दी में जितने भी सुधारवादी आंदोलन हुए उनमें ~~आर्यसमाज×का×विरोध~~ एकमात्र

आर्यसमाज ही ऐसी संस्था थी , जिसने अपने जन्मकाल से ही विदेशी शासन का विरोध और स्वदेशी राज्य का समर्थन किया था । हिन्दी के विकास में भी इसका योगदान अपूर्व है । आर्यसमाज के संस्थापक महर्षि दयानंद सरस्वती कहते हैं — " विदेशी राज चाहे माता-पिता के समान क्यों न हो , लेकिन वह स्वदेशी राज्य की समानता नहीं कर सकता । "[8] इस प्रकार "स्वराज्य" शब्द को आधुनिक अर्थ भी स्वामी दयानंदजी ने ही दिया था । आर्य समाज ने देश के एक बहुत बड़े वर्ग को प्रभावित किया । आर्यसमाज से प्रभावित समुदाय ने अशिक्षा , कुरीतियों , मूर्तिपूजा , तीर्थ , बलि , पर्दा , दहेज , बालविवाह , अनमेल विवाह आदि का खण्डन करते हुए विधवा-विवाह एवं नारी-शिक्षा की प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित किया । इतना ही नहीं अछूतों को भी उनके मानवीय अधिकार दिलाने की चेष्टा समाज ने की । उत्तर भारत में , विशेषतः उत्तर प्रदेश और पंजाब में आर्य-समाज ने एक जन-आंदोलन का स्वरूप धारण कर लिया था । बिस्मिल , रोशनसिंह , चन्द्रशेखर आज़ाद , भगवानदास माहौर , शिव वर्मा प्रभृति क्रांतिकारी पहले आर्य-समाज से ही संबंधित थे ।[9] इस प्रकार देश में राजनीतिक चेतना को विकसित कर राष्ट्रीय आंदोलन को उर्जस्वित करने में आर्य-समाज के योगदान को नकारा नहीं जा सकता । प्रेमचन्द और उनके समकालीन लेखकों पर इसका भरसक प्रभाव देखा जा सकता है ।[10]

इन सामाजिक-धार्मिक आंदोलनों के अतिरिक्त स्वामी रामकृष्ण परमहंस , स्वामी विवेकानंद , महर्षि अरविंद , गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर , महात्मा ज्योतिबा फुले ; गोखले , लोकमान्य तिलक , लाला लजपतराय , महात्मा गांधी , पंडित मोतीलाल नेहरू , पंडित जवाहरलाल नेहरू , सरदार वल्लभभाई पटेल , आचार्य नरेन्द्र देव , डा० बाबासाहब आंबेडकर , आचार्य कृपलानी , डा० राममनोहर लोहिया , डा० अबुल कलाम आज़ाद ; फ्रांज , कामू , काफ्का, सार्त्र ; मार्क्स , एंजिल , लेनिन , माओ ; फ्रायड , एडलर , युंग , पावलोव , जिन पायागेट प्रभृति क्रमशः तत्वचिंतकों , नेताओं एवं मनोवैज्ञानिकों के द्वारा चिंतन-मनन की जो नयी सरणियां स्थापित हुईं उनके कारण लेखन को भी एक विशिष्ट प्रकार की गतिशीलता प्राप्त हुई ।

परन्तु स्वाधीनता के उपरान्त इस प्रकार की प्रवृत्तियों में ओट आयी और स्वार्थी स्वकेन्द्रित मनोवृत्तियां पुनः प्रबल हो उठीं , जिसने सामा-

जिक न्याय की उस मूलभूत मुहिम को ही कुचल दिया । राजनीतिक , सामाजिक, धार्मिक , शैक्षिक सभी क्षेत्रों में एक निश्चित गुणात्मक गिरावट आयी । गांधी के नाम को भनाये जाने लगा । सबकुछ गांधी-विचारधारा के विपरीत होने लगा । तभी तो कहा गया —

" गांधी से चर्चिल पूछे , देख रहे क्या हाल ।
तेरे चरखे से बुने , नेता मिथ्या जाल ।।
तथा
गांधी तेरे देश में , वायु विषम फुंकाय ।
चन्द चाऊ चटोरिये , चंगा देश चलाय ।। "[11]

अतः कहा जा सकता है कि समाज की स्थिति आज भी ठीक नहीं है । डॉ० फजलुर्रहमान फरीदी के शब्दों में — " हमारा मुल्क इस समय आर्थिक और राजनीतिक जद्दोजहद में मसरूफ है । आर्थिक तरक्की , संसाधनों की पैदावार और उसमें अप्रत्याशित विकास भी मुल्क ने प्राप्त किया है । साइंस के मैदान में बड़ी-बड़ी उपलब्धियां हासिल की हैं । [परन्तु] दूसरी तरफ इससे दौलत के बंटवारे में असंतुलन भी बढ़ा है । गरीबी और अमीरी साथ-साथ बढ़ रही हैं । शोषण, भ्रष्टाचार , धोखाधड़ी और जालफरेब भी खूब बढ़े हैं । बेरोजगारी बढ़ती जा रही है और नौकरियों में काबिलियत की जगह रिश्वत और सिफारिश काम कर रही है । इसके बगैर अधिकार भी नहीं मिलते । जिंदगी के स्तर को ऊंचा उठाने की हवस ने सही और गलत का फर्क मिटा दिया है । यह प्रवृत्ति विकसित हो गई है कि स्तरीय जिंदगी जीने के लिए नकली और अनैतिक तरीके अपनाना चाहिए , क्योंकि वास्तविक तरीके और सही रास्ते से कुछ प्राप्त करने में मेहनत भी ज्यादा लगती है और समय भी बहुत लगता है । भारत में जाति-पांति और बिरादरीवाद की भी संगीन सूरतेहाल है । तमाम सख्तियों के बावजूद अब भी हरिजनों के मंदिर में प्रवेश पर पाबन्दी है । सरकारी ~~डण्डे~~ डण्डे के बावजूद उनके आरक्षित स्थान खाली पड़े हैं ... अभी तक स्त्रियां सती हो रही हैं । कानून ने अधिकार और आरक्षण दे रखा है । लेकिन दहेज के लिए वे अब भी जलाई जा रही हैं । विरासत में अधिकार नहीं है । समाज के जिन प्रगतिशीलों ने पश्चिमी सभ्यता अपनायी है । वे भी औरत को शो पीस या घर की आमदनी बढ़ानेका पुर्जा समझते हैं । "[12]

इस सम्बन्ध में डा० विवेकीराय का मत भी उल्लेखनीय रहेगा — " सन् 1950 ई. के बाद वाले हिन्दी उपन्यासों को देश के बहुस्तरीय आमूल परिवर्तनों ने, विशेषकर देश के इतिहास-भूगोल के बदल जाने की स्थितियों, चुनाव और लोकतंत्र, व्यापक रूप से विकास चक्र प्रवर्तन, वन-जीवन की राजनीति ... केन्द्रीयता और नेतावाद, कमरतोड़ महंगाई के साथ बेकारी की मार, आबादी के बढ़ते बोझ और भ्रष्टाचार के दबाव आदि ने ऐसे जबरदस्त रूप में प्रभावित किया कि उनमें चित्रित जीवन के स्वरूप-वैविध्य की कोई सीमा नहीं रही। इस नये दौर के कृतिकारों ने प्राचीन मूल्यों और मान्यताओं के टकराने तथा टूटने की स्थितियों के साथ अचानक तीव्र गति से उपजी सामाजिक जीवन की गिरावट को विशेष रूप से चित्रांकित किया है। नाना प्रकार की आशाओं, अपेक्षाओं और प्रतीक्षाओं के लंबे नाकाम सिलसिलों में उबे-उकताये और अदेखे कसावों में कसमसाते आम लोगों को चीजें लगातार मिलती गयीं उनमें प्रमुख है अपने कर्णधारों की अराष्ट्रीय स्वार्थवादिता, सुविधावादिता और अवसरवादिता[13]।"

अभिप्राय कि तमाम-तमाम प्रतिघोषणाओं के बावजूद स्वाधीनता के उपरान्त भारत के ग्रामीण रिहायशियों को दोयम दर्जा ही हासिल है। संख्या में अधिक होते हुए भी उनके हितों को कुचला जा रहा है। फलतः अनेक समस्याएं पैदा हो रही हैं। पहले निर्दिष्ट किया जा चुका है कि प्रस्तुत अध्याय में स्वातंत्र्योत्तर ग्रामभित्तीय उपन्यासों की सामाजिक समस्याओं पर विचार होगा। अतः यहाँ उसके कुछ आयामों को लेकर सामाजिक समस्याओं को विश्लेषित करने का उपक्रम है।

:: संयुक्त-परिवार में विघटन की प्रक्रिया ::

हमारा देश कृषिप्रधान है। कृषि-प्रधान समाज-व्यवस्था में संयुक्त परिवार का महत्व अपरिहार्य है। संयुक्त-परिवार की प्रकृति अधिनायकवादी होती है, फलतः उसमें उसके मुखिया की आवाज़ सर्वोपरि होती है। उसकी प्रत्येक बात और निर्णय को शिरोधार्य समझना एक नैतिक-मूल्य के रूप में माना जाता है। परन्तु औद्योगिक क्रांति से उत्पन्न पूंजीवादी व्यवस्था ने संयुक्त-परिवार की मूल विभावना को भयंकर व्याघात पहुंचाया है। पूर्ववर्ती विवेचन में

निर्देशित किया गया है कि उक्त औद्योगिक क्रांति ने नगरीकरण की प्रक्रिया में गुणात्मक वृद्धि की है । कस्बे नगर और नगर महानगर में परिवर्तित हो रहे हैं । ग्रामीण-जीवन की कष्टिली जिन्दगी , असुविधाएं , पिछड़ापन ,वैयक्तिक-स्वतंत्रता में पड़ने वाली बाधा , बढ़ती हुई ~~शिक्षा~~ शिक्षा-सुविधाओं के परिणाम-स्वरूप नव-शिक्षित ग्रामीण लोगों का नौकरी-धंधों के लिए शहरों में संक्रमित होना और फिर वहीं बस जाना , जमींदार व नव-धनिक वर्ग के उत्पीड़न और शोषण से मुक्ति खोजने हेतु पिछड़े तबके के लोगों का शहरों में भागना इत्यादि कारणों से गांव के लोग निरन्तर शहरों की ओर भाग रहे हैं , जिसके फलस्वरूप संयुक्त परिवार में विघटन की प्रक्रिया तीव्रतर हो गई है । दूसरे नगरीय प्रभावों के दबावों के कारण भी संयुक्त-परिवार की विभावना में दरार पड़ती जा रही है ।

संयुक्त-परिवार की इस टूटन एवं सम्बन्धों के विघटन को डा० रामदरश मिश्र द्वारा प्रणीत उपन्यास " जल टूटता हुआ " में रेखांकित किया जा सकता है । सुग्गन मास्टर प्राथमिक स्कूल में अध्यापक हैं । अपनी नौकरी की अतिरिक्त कमाई को वे संयुक्त-परिवार में कैसे खपा सकते हैं ? अतः अपने भाई से अलग हो जाते हैं , वैसे इस सिलसिले में उन्हें अन्यायी महीपसिंह से समझौता करना पड़ता है , क्योंकि महीपसिंह डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के चेयरमैन हैं और उन्हें नाराज़ करने पर मास्टर सुग्गन का तबादला तराई में हो सकता है । इस स्थिति में पत्नी जमुना और जवान पुत्री गीता को अकेले रखना कैसे संभव हो सकता है ? अतः सतीश का पक्ष न्यायी होते हुए भी उसे महीपसिंह के आदेश पर सतीश के खिलाफ़ चुनाव में काम करना पड़ता है । इस प्रकार यहां हम देख सकते हैं कि एक समस्या कैसे दूसरी समस्या को जन्म देती है । धनपाल और बनवारी दो भाई हैं , परंतु धनपाल यह बराबर चाहता रहता है कि बनवारी उज्जड़ , मूर्ख व आवारा बना रहे , ताकि जमीन-जायदाद का फायदा केवल उसे मिलता रहे । बनवारी की पत्नी जेठ की इस चालाकी को भलीभांति समझती है , फलतः वह निरंतर बंटवारे के लिए उकसाती रहती है और अंततः उन दोनों में बंटवारा हो जाता है । इस प्रकार उपन्यास के अन्त में दो भाई कुंजू और बिरजू के सम्बन्धों में भी लेखक ने तनाव की स्थिति को निरूपित किया है ।

मिश्रजी के ही एक अन्य उपन्यास "अपने लोग " में भी परिवार के इस विघटन को समेकित किया गया है । उपन्यास के डा० प्रमोद शुक्ला गोरखपुर के निकट के किसी गांव के हैं और दिल्ली के एक कौलेज में प्राध्यापक हैं । अपने खेत-खलिहान-पोखर आदि से प्रेम होने के कारण वे गोरखपुर में के किसी कोलेज में "रीडर" होकर आ जाते हैं । उनके भाई रमेश की पत्नी जब मयबच्चों के अपना इलाज कराने आ धमकती है , तब घर के सभी सदस्यों को यह खलता है । इस प्रसंग से पारिवारिक विघटन की यह प्रक्रिया ध्वनित होती है ।

शहरी वृत्ति-मूलक मनोवृत्ति मनुष्य को स्वार्थी व आत्मकेन्द्रित बना देती है और शनैः शनैः वह अनुदार होकर संयुक्त-परिवार की भावना से कटता जाता है । इसे हिमांशु श्रीवास्तव के उपन्यास " नदी फिर बह चली" में भलीभांति उकेरा गया है । इस उपन्यास का जगलाल शहर में जाकर "ड्राइवर" बन गया है । वह अपनी सारी कमाई शहर में ही उड़ा देता है और पत्नी के समझाने पर कहता है — " घर में आखिर मेरे हिस्से में क्या खर्च आता है , एक तुम हो और कौन ? भइया के तो तीन-तीन बच्चे हैं । जनाना फिर अपने अलग । कहां वे पांच , कहां तुम अकेली । मेरे खर्च का सवाल ही नहीं उठता ।" [14]

भविष्य की असुरक्षा व अनिश्चितता के कारण भी पहले मनुष्य अपने परिवार से जुड़ा हुआ रहना पसंद करता था , ताकि हारी-बीमारी तथा आड़े दिनों में परिवार की सुरक्षा का छत्र अपने ऊपर रहे । परंतु आजकल भविष्य-निधि , पेन्शन , जीवन-बीमा जैसी सुविधाओं के कारण नौकरी-पेशा वर्ग निश्चिंत हो गया है । अब तो कुछ सरकारी विभागों में ऐसा भी हो गया है कि व्यक्ति की आकस्मिक मृत्यु पर उसके परिवार में से किसी को (पुत्र, पुत्री या पत्नी को) नौकरी में रखा जाता है । व्यक्ति की मृत्यु होते ही उसके परिवार वालों को एक अच्छी-खासी रकम भी मुहैया हो जाती है । इन स्थितियों में व्यक्ति अपने को ज्यादा महफूज समझता है । परिणामस्वरूप अपने परिवार से (संयुक्त-परिवार से) वह निरन्तर कटता गया है । और परिवार का स्वरूप भी क्रमशः सिकुड़ता गया है , जिसे हम "अपने लोग " जैसे उपन्यासों में लक्षित कर सकते हैं ।

ऊपर बताया जा चुका है कि व्यक्तिवादी चिंतन से निःसृत

स्वार्थवृत्ति मनुष्य को परिवार से विलग कर रही है । शैलेश मटियानी कृत "हौलदार" उपन्यास का हौलदार डूंगरसिंह अपने भाइयों से इसलिए अलग हो जाना चाहता है कि भाइयों का भरा-पूरा परिवार है, दूसरी तरफ वह अकेला है । फौज में भर्ती होकर अपनी ही गलती से एक टांग खोकर वह लौट आया है । इस अवस्था में यदि दो पैसे बटोर लेता है, तो जसौंतसिंह की विधवा जैंता या और किसी को फांसा जा सकता है । बंटवारा करवाने के लिए वह अपने भाई तथा भाभियों पर गलत-गलत आरोप भी लगाता है, और अपनी लंगडी टांग तथा चिकनी-चुपड़ी बातों से थोकदार चाचा जैसे गांव के बड़े-बूढ़ों का समर्थन प्राप्त कर लेता है । इस सम्बन्ध में थोकदार डूंगरसिंह से कहते हैं — " लेकिन तेरे लिए तो मैंने सम्पूरण व्यवस्था कर दी है, भतीज ! तेरा हिस्सा पुश्तैनी जमीन-जैजात में बेरोकटोक दिलवा रहा हूं, जो तुझे आज बीपै {बृहस्पतिवार का संक्षिप्तरूप}, कल शुक्क, परसों छन्चर {शनिचर} और नरसों — एतवार को हासिल हो जाएगा । इसके बाद तू खुद संभाल ही लेगा, क्योंकि काफी दिलावर और दिमागदार आदमी है तू । " [15]

डूंगरसिंह का भाई चनरसिंह अपनी गृहस्थी की गाड़ी खींचने के लिए काश्तकारी के अतिरिक्त दुकानदारी भी करता है । डूंगरसिंह का काम तो अकेली काश्तकारी से भी चल सकता है, परन्तु वहां भी अपने भाई की दूकान को ठप्प कराने के इरादे से धौलछीना-पड़ाव पर दूकान खोलने की डूंगरसिंह सोचता है — " तब देखने वाले भी देखेंगे, खिमुली-भिमुली भौजियां देखेंगी, देवसिंह और चनरसिंह दो भैया देखेंगे, कि डूंगरिया को क्या हम समझते थे, क्या वह निकला ! कहां हम उसको एकदम निगरगण्ड, एकदम निकम्मा समझते थे और कहां उसने धौलछीना के पांव-उखाड़ू पड़ाव में इतनी बड़ी, अलमोड़ा के लाला भगवती परशाद की जैसी, जबरजंड दूकान खड़ी कर दी है ! " [16]

उक्त दोनों उदाहरणों से हम पारिवारिक विघटन की प्रक्रिया को लक्षित कर सकते हैं ।

पृथ्वीराज मोंगा के उपन्यास "कांच का आदमी " में इस पारिवारिक विघटन के एक अन्य पहलू से हमारा साक्षात्कार होता है । उपन्यास का नायक सुरेश नीरा से अंतरजातीय विवाह करके अपने भाई-बहन,

माता-पिता से अलग हो जाता है और यह परिवार पूरी तरह से बिखर जाता है । नायक की बड़ी बहन कमला धीर-गंभीर , सेवा-परायण , विवेक-संपन्न एवं सर्वसहा है ; किन्तु उसका विवाह उसके पिता दरिद्रता के कारण रामलाल नामक एक अयोग्य एवं अशिष्ट व्यक्ति से कर देते हैं , जिससे कमला की ज़िन्दगी तबाह हो जाती है । इस पर सुरेश अपने पिता पर बिफर उठता है । तब उसकी छोटी बहन मधु अपने तेज़-तर्रार तेवरों में बोल पड़ती है — " जिन जवान बहनों के बेगैरत भाई अपनी बहिनों की चिन्ता किए बगैर खुद स्वयंवर रचा लेते हैं , उनको क्या मिनिस्टर ब्याहकर ले जायेंगे ? खुद चुल्लूभर पानी में डूब मरने की जगह तू पिताजी पर गरज रहा है । शर्म आनी चाहिए तुझे । तू कम गिरा हुआ आदमी है ? बता ? " [17]

इस प्रकार बढ़ते हुए व्यक्तिवादी चिंतन , स्वार्थपरक वृत्ति , शहरी प्रभाव , आधुनिकीकरण प्रभृति कारणों से गांवों में भी पारिवारिक विघटन की प्रक्रिया धीरे-धीरे बढ़ रही है ।

<u>टूटते हँसते बिखरते गांव</u> :हमारा देश गांवों से बना है , अतः ग्रामोद्धार में ही हमारा उद्धार है । हमारा देश कृषि-प्रधान है , अतः कृषि को ही दूसरे सब उद्योगों पर तरजीह देनी चाहिए । पर हुआ इसके विपरीत । स्वाधीनता के पश्चात् सरकारी नीतियों का जो उल्टा चक्र चला , उसके परिणामस्वरूप गांवों का नव-निर्माण होना तो दूर , उल्टे गांव के लोग शहरों की तरफ भागने लगे । " खादी , हिन्दी औ हरिजन ; थे बापू को प्रिय / आबरू तीनों की हुई तार-तार क्यों ? " [18] इसमें एक और को भी जोड़ सकते हैं — गांव । गांधीजी भी गांव के उद्धार में देश का उद्धार देखते थे , पर गांधीवाद को तो हमारे यहां , गांधी के साथ ही दफ़ना दिया गया है । "राग दरबारी " उपन्यास में उसके लेखक श्रीलाल शुक्ल एक स्थान पर कहते हैं कि शहर में हर समस्या के आगे एक राह है , और गांव में हर राह के आगे एक समस्या होती है । छोटी-छोटी चीज़-वस्तुओं को भी बड़े-बड़े औद्योगिक प्रतिष्ठानों से सम्बद्ध कर दिया गया है । भला नमक जैसी वस्तु भी जब "टाटा" से जुड़ गई है , तो दूसरी वस्तुओं का तो कहना ही क्या ? फलतः हर आदमी शहर की तरफ भागा जा रहा है ।

हमारे नेता दोमुंही बातें करते हैं । एक तरफ नवयुवकों को कहा जा रहा है कि वे शहरों का आकर्षण छोड़कर गांवों की ओर ध्यान दें , परन्तु दूसरी तरफ वे स्वयं तथा उनके सगे-रिश्तेदार शहरों में बस रहे हैं । गांव के सभी बड़े-बड़े जमींदार तथा पूंजीपति शहरों में मकान बनवा रहे हैं , और उनके परिवार वहीं बस रहे हैं । गांव में तो वे कभी-कभी "पिकनिकी तौर " पर आते हैं । एक नया अनतगौन {चक्र} शुरू हो गया है । गांव का व्यक्ति शहर , शहर का महानगर , और शहर तथा महानगर का व्यक्ति यौरोप-अमरिका भाग जाना चाहता है । जिस प्रकार हमारे देश की मेधा { क्रीम आफ सोसायटी } विदेश खिसक रही है , उसी प्रकार गांव की प्रतिभाएं शहरों की ओर आकृष्ट हो रही हैं । जनगणना के अनुसार सन् 1951 में नगरीय क्षेत्रों में जन-संख्या का प्रतिशत 17.29 था जो सन् 1981 तक आते-आते 23.31 हो गया है ,[19] और अब इस 1991 की गणना में यह प्रतिशत और भी बढ़ जाएगा । "अलग अलग वैतरणी " {शिवप्रसादसिंह} के जग्गन मिसिर की मनोव्यथा में इस एकतरफा निर्यात को एक पीड़ा के साथ व्यक्त किया गया है । " आप जा रहे हैं विपिन बाबू , जाइये । कोई इसके लिए आपको दोष भी नहीं देगा । सभी जाते हैं । हमारे गांवों से आजकल इकतरफा रास्ता खुला है । निर्यात । सिर्फ निर्यात xxx । जो भी अच्छा है , काम का है , वह यहां से चला जाता है । अच्छा अनाज , दूध , घी , सब्जी जाती है । अच्छे मोटे-ताजे जानवर , गाय, बैल , भेड़ें-बकरे जाते हैं । हट्टे-कट्टे मजबूत आदमी जिनके बदन में ताकत है , देह में बल है , खींच लिए जाते हैं , पल्टन में , पुलिस में , मलेटरी में , मिल में । फिर वैसे लोग जिनके पास अकल है , पढ़े-लिखे हैं , यहां कैसे रह जायेंगे ? वे जायेंगे ही । जाना ही होगा । "[20]

जाते तो लोग पहले भी थे , मगर अक्सर वे जिन्हें गांवों में काम नहीं मिलता था या जो जमींदार के जोरो-जुल्म से आजिज आ गए थे । "धरती धन न अपना " का काली तथा "जल टूटता हुआ " का रमपतिया इसके उदाहरण हैं । पर अब तो "एक नये तरह का अनतगौन हो रहा है । यहां रहते वे हैं जो यहां रहना नहीं चाहते ,पर कहीं जा नहीं पाते । यहां से अब जाते वे हैं जो यहां रहना चाहते हैं ; पर रह नहीं पाते । "[21]

उपन्यास "अलग अलग वैतरणी " की यह समस्या कुछ हद तक

हमारे देश की भी है । " हमारे देश का बुद्धिधन भी शनैः शनैः विदेश जा रहा है । डा0 चन्द्रशेखर , डा0 नार्लीकर , डा0 खुराना , प्रसिद्ध सितारवादक रविशंकर , प्रसिद्ध तबला-वादक उस्ताद ज़ाकिरहुसैन प्रभृति इसके ज्वलंत उदाहरण हैं । दूसरी ओर गांवों की प्रतिभा शहरों की ओर बढ़ती है , जिसमें गांव टूट रहे हैं । मूल्य टूट रहे हैं । नहीं टूटता है केवल अन्धकार — जड़ता का अंधकार ।"[22] अतः उपन्यास में बिसु द्वारा गाया गया रहीम का यह दोहा हमारे मनोमस्तिष्कक पर बार-बार प्रतिघोषित होता है :-

" सर सूखे पंछी उड़ैं , औरनि सरहिं समाहिं ।
दीन मीन बिनु पंख के , कहु रहीम कहं जाहिं ।।[23]

जग्गन मिसिर और कनिया ऐसे ही "दीन-मीन" हैं जो गांव की नियति से जुड़े हुए हैं ।

"पानी के प्राचीर " (डा0 रामदरश मिश्र) की संध्या अपने बाल-प्रेमी नीरू से गांव के सम्बन्ध में कहती है — " गांव में क्या रखा है नीरू । देखोन सखियों के नाम पर गेंदा , चमेली जैसी आवारा छोकरियां हैं । गांव के लौंड़े हैं , जो बिंदिया चमाइन के पीछे पड़े रहते हैं और गांव की लड़कियों पर बुरी निगाह गड़ाए फिरते हैं । गांव के लोग चोरी करते हैं , खेत उखाड़ते हैं , घर फूंकते हैं , चुगली करते हैं — ऐसे गांव में क्या रक्खा है ? और तो और दिल बहलाने के लिए कोई तरीका नहीं । किसी से बात करो तो वह दूसरों की शिकायत करता है । औरतें हैं तो उन्हें एक-दूसरे के घर की पोल खोलने में ही मज़ा आता है ।"[24]

"जल टूटता हुआ" का सतीश भी ग्रामीण-जीवन के इस विघटनगामी पतन से व्यथित एवं चिंतित है , यथा — " गांव टूट रहे हैं , मूल्य टूट रहे हैं , सत्य टूट रहा है , कोई किसीका नहीं , सभी अकेले हैं ; एक दूसरे के तमाशाई .... इस जमाने में दो ही शक्तियां विकासमान हैं पैसा और गुण्डई ।"[25]

"सूखता हुआ तालाब " के देवप्रकाश भी ग्रामीण जीवन की इस वैतरणी से त्रस्त हैं । " क्या है मानवता ? क्या है मूल्य ? कुछ नहीं बचा है । बचा है केवल सुख-सुविधा-परक समझौता ? तब तो कहीं कुछ भी विश्वसनीय नहीं , कहीं कुछ भी अटूट नहीं , कहीं कुछ भी मूल्य नहीं , आत्मीय नहीं ।"[26]

तभी तो गांवों से लोग भाग रहे हैं और गांव टूट रहे हैं । "अलग अलग वैतरणी" के विपिन तथा डा० देवेन्द्रनाथ ; "जल टूटता हुआ " का चन्द्रकान्त ; "एक टूटा हुआ आदमी " का धर्मनाथ ; "दिल एक सादा कागज़ " का रघुफन ; " धरती धन न अपना " का काली ; "रेतीला मोती" [राजकुमार त्रिवेदी] का रघुनाथ आदि इसके उदाहरण हैं ।

परन्तु इसके विपरीत "मैला आंचल " के डा० प्रशांत तथा "लोक-ऋण " के गिरीश जैसे लोग भी मिलते हैं , जो पढ़े-लिखे लोगों को यह अहसास कराना चाहते हैं कि तुम्हारे ऊपर लोक का ऋण है , जिसे उतारना तुम्हारा कर्तव्य है । " सूखता हुआ तालाब " के देवप्रकाश भी असिस्टैण्ट स्टेशन मास्टर की "दूधों फलनेवाली नौकरी को लात मारकर गांव में चले आते हैं । इसे हम अयथार्थ नहीं कह सकते , क्योंकि इस खण्डित और हरामीपन से पगे हुए माहौल में भी यथार्थतः कुछ ~~नेक~~ ऐसे लोग अवश्य मिलते हैं , जो अपने वैयक्तिक स्वार्थों से ऊपर उठकर एक बृहत्तर समाज के विकास के लिए उद्यत दिखते हैं । गुजरात में भड़ौंच जिले के "झगड़िया" नामक गांव में "सेवा-सरल" नामक संस्था है , जिसमें एक ऐसा डाक्टर दम्पति कार्यरत है जो अमरिका की अपनी ऊँची कमाई एवं उज्जवल भविष्य [आर्थिक दृष्टया] को त्यागकर एक छोटे-से गांव में सेवा-कार्यों द्वारा अपने चरित्र की सौरभ फैला रहे हैं ।[88] 27

परन्तु ऐसे लोग समाज में रेगिस्तान के रणद्वीप की भांति विरल मिलते हैं । मुख्यतः यही देखा जाता है कि शनैः शनैः गांव टूट रहे हैं । जो कुछ लोग गांवों में रह रहे हैं , अपने भूगिगत या राजनीतिक कारणों से , उनका भी मुख्य सरोकार तो शहरों से ही है । शहरों में गांवों से आयातीत ऐसे नव-धनिक वर्गों का समूह पनप रहा है , जो कुछ पुराने शहराती लोगों में यह भ्रान्त धारणा पैदा कर रहे हैं कि गांव आर्थिक दृष्टया बहुत समृद्ध हैं और सारी विपदाएं तो शहरी नागरिकों को ही झेलनी पड़ती है ।

गांवों की इस टूटन के सम्बन्ध में डा० रामदरश मिश्र "अलग अलग वैतरणी " की समालोचना करते हुए लिखते हैं — " शिक्षा का प्रसार हुआ किन्तु अज्ञान नहीं टूटा , समृद्धि बढ़ी लेकिन आर्थिक विषमता नहीं टूटी । चारों ओर अधजली सिगरेट के टुकड़ों की तरह अपने स्थान पर सुलगते

लोग ही लोग और चारों ओर बिखरे हुए आहत जीवन-मूल्य , सामाजिक सम्बन्ध , विवेक-चेतना -- यहां से वहां तक अकेलापन और उस अकेलेपन के बीच सांड की तरह डंकारते झुण्ड के झुण्ड गुण्डे । " 28

टूटते हुए जीवन-मूल्य : मनुष्य और पशु में तत्वतः यह अंतर है कि मनुष्य का जीवन कुछ निश्चित जीवन-मूल्यों पर आधारित होता है । वह मानवीय व्यवहार में निहित सद्-असद् , शुभ-अशुभ के मानदण्डों को निर्धारित एवं विकसित करता हुआ परम कल्याण को पाना चाहता है । उसकी यह कल्याण-कामना मानवता-मूलक होती है । हमारे यहां नीतिशास्त्र को धर्मशास्त्र का पर्याय स्वीकार करते हुए नैतिक मूल्यों के अभाव में धर्म की सत्ता गौण मानी गई है । डा० आइ.सी. शर्मा के मतानुसार " भारतवर्ष में सदा ही नैतिक मूल्यों का धर्म और दर्शन के अंग रूप में स्वीकार किया गया है । इससे पृथक अध्ययन की आवश्यकता भी अनुभव नहीं की गई । " 29

वस्तुतः यह पूर्णतया सत्य है कि नैतिक मूल्यों को समाज से पृथक् रखकर कभी नहीं समझा जा सकता । मनुष्य का व्यवहार चूंकि चरित्र का प्रकाशन है , अतः चरित्र के स्वरूप को पूर्णतः हृदयंगम करने के लिए नैतिक मूल्यों का महत्त्व अपरिहार्य है । डा० एच.एम. जानसन ने नीति-संबंधी मूल्यों की व्याख्या करते हुए कहा है — " मोरल वेल्यूज़ मे बी डीफाइन्ड एज़ ए कंसेप्शन ओर स्टाण्डर्ड , कल्चरल ओर मीयरली परसनल बाय व्हीच थिंग्स आर कंपेर्ड एण्ड एप्रूव्ड ओर डिसएप्रूव्ड रीलेटिव टू वन अनधर हेल्ड टू बी रीलेटिवली डीजायरेबल मोर मेरिटोरियस ओर लेस ओर मोर ओर लेस करेक्ट . " 30 अर्थात् नैतिक मूल्यों को एक धारणा या मान के रूप में परिभाषित किया जा सकता है , जो कि सांस्कृतिक हो सकता है या केवल व्यक्तिगत और जिसके द्वारा चीज़ों की एक-दूसरे के साथ तुलना की जाती है , स्वीकार या अस्वीकार की जाती है — एक दूसरे की तुलना में उचित या अनुचित , अच्छा या बुरा , ठीक या गलत माना जाता है ।

संक्षेप में हम किसी व्यक्ति या समाज या देश को अच्छा-बुरा कहते हैं , उसके मूल में इन्हीं जीवन-मूल्यों का आधार होता है । और हर

युग में इन जीवन-मूल्यों को तोड़ने-मरोड़ने वाले कुछ लोग अवश्य मिलते हैं। परन्तु मानवीय-चिंता का मुख्य कारण यह है कि इधर मूल्यों के गिरावट की प्रक्रिया पहले की अपेक्षा अधिक तीव्रतर हो गई है। स्वाधीनता के उपरान्त हमारा राष्ट्रीय चरित्र ही कुछ खतरे में पड़ा हुआ नज़र आता है, क्योंकि 15 अगस्त 1947 हमारे देश की स्वाधीनता का वह मध्यबिंदु हो गया है, जहां से हमारे राजनीतिक-सामाजिक-धार्मिक नेताओं ने उलटना और पलटना सीखा है और यह अनैतिक उठा-पटक फिर सिद्धांतों के नाम पर हो रही है, यह और भी विडंबना है। पुराने कांग्रेसी तथा हिन्दी के महान प्रेमी व प्रचारक पंडित युगलकिशोर चतुर्वेदीजी का कथन इस संदर्भ में उल्लेखनीय रहेगा — "गांधीजी अथवा कांग्रेस के तत्कालीन विचारों के विपरीत वर्तमान सत्तारूढ़ कांग्रेसदल गरीबों के हितों को एकदम भुलाकर पूंजीपति, उद्योगपति, जमींदार, जागीरदार तथा राजा-महाराजा और नवाबों का पक्ष लेना ही अपने अस्तित्व को अक्षुण्ण रखने के लिए उचित तथा आवश्यक मानता है, क्योंकि आजकल वह इसी वर्ग के लोगों को आर्थिक सहायता तथा परंपरागत प्रभाव से चुनाव में विजयी होने और सम्बन्धित सदन में अपना बहुमत बनाकर सत्ता प्राप्त करने में सफल होता है। यही कारण है, जो अब कांग्रेसके संगठन अथवा सरकार पर पुराने त्यागी, तपस्वी, आदर्श और सिद्धान्तवादी कांग्रेसजनों का प्रभुत्व न होकर उपर्युक्त कोटि के किसी समय के राष्ट्रविरोधी और प्रतिक्रियावादी तत्व हावी हो रहे हैं।"[31] तभी कहा गया है —

" आज़ादी के बाद से फैला कैसा रोग।
कमतर होते जा रहे भोले-भाले लोग।।"[32]

नैतिक मूल्यों की इस ~~टेंसनxxx~~ टूटन को हम "मैला आंचल", "राग दरबारी", "अलग अलग वैतरणी", "जल टूटता हुआ", "सूखता हुआ तालाब", "आधा गांव", "हौलदार", "नागवल्लरी" प्रभृति उपन्यासों में रेखांकित कर सकते हैं। पुराने जमाने में बेटी की कमाई हराम समझी जाती थी, परंतु आजकल के मांबाप अपनी बेटियों को नौकरी कराते हैं और उनकी कमाई पर परिवार भी चलता है। "पचपन खंभे लाल दीवारें", "टेराकोटा", "छाया मत छूना मन" जैसे नगरीय परिवेश के उपन्यासों में तो इसे देखा ही जा सकता है, परन्तु अब यह बात गांवों में भी धीरे-धीरे संक्रमित

हो रही है । "आधा गांव" के अब्बूमियां को अब अपनी बेटी सईदा ~~के पढ़ने~~ का पढ़ना और नौकरी करना अखरता नहीं है । बेटी के पैसे वे नहीं लेते पर सईदा की मां बेटी द्वारा खरीदे गए मातमी लिबास को पहनकर मजलिस में अब जाने लगी है । परंतु इसकी पराकाष्ठा तो "मैला आंचल " में मिलती है , जहां जवान बेवा बेटी से स्वयं उसकी मां पेशा करवाती है । इस सम्बन्ध में रमजूदास की पत्नी फुलिया की मां से कहती है — " तुम लोगों को न तो लाज है न शरम । कब तक बेटी की कमाई पर लाल किनारीवाली साड़ी चमकाओगी ? आखिर एक हद होती है किसी बात की । मानती हूं कि जवान बेवा बेटी दुधार गाय के बराबर होती है , मगर इतना मत दुहो कि देह का खून ही सूख जाय । "33

"राग दरबारी" उपन्यास में तो इस नैतिकता का ही मखौल उड़ाया गया है — " नैतिकता , समझ लो कि यह चौकी है । एक कोने में पड़ी है । सभा-सोसायटी के वक्त इस पर चादर बिछा दी जाती है । तब बड़ी बढ़िया दिखती है । इस पर चढ़कर लेक्चर फटकार दिया जाता है । यह उसी केलिए है । " 34

डा0 रामदरश मिश्र के उपन्यास "सूखता हुआ तालाब" में कामरेड मोतीलाल अपने ही अनुज की विधवा पत्नी (भयउ) से शारीरिक सम्बन्ध जोड़ते हैं , जिसके कारण उसे गर्भ भी रहता है , जिसे गिराया जाता है । दोस्ती-दुश्मनी तथा स्त्री-पुरुष के अनैतिक यौन-सम्बन्ध गांवों में पहले भी मिलते थे , परन्तु पहले इनमें सरलता और मर्यादा रहा करती थी । अब तो राजनीतिक गुटबन्दियों के कारण वहां भी जटिलता आ गयी है । पहले जिन मामलों को लेकर लोग मरने-मारने पर उतारू हो जाते थे , ऐसे मामलों का उपयोग अब राजनीति खेलने में होता है । शिवलाल की लड़की कलावती को मास्टर धर्मेन्द्र से गर्भ रहता है , तब शिवलाल के सुपुत्र (?) रामलाल यह दोष विरोधी दल के देवप्रकाश के पुत्र रवीन्द्र पर डालना चाहते हैं , क्योंकि धर्मेन्द्र उनका पट्टीदार है और उनके पक्ष में है । परन्तु देवप्रकाश के मित्र जैराम के द्वारा कलई खुल जाने पर वह बड़ी बेशरमी से कहता है — " आ गांव वाले सालों की क्यों छाती फटती है ? धरमेन्दर भैया ने कुछ किया है तो मेरी ही बहन के साथ किया है म न ? " 35

जगदीशचन्द्र के उपन्यास " धरती धन न अपना " में चौधरी हरनामसिंह का भतीजा हरदेव मंगू से मालिश करवाता है । मंगू चमार है, फिर भी हरदेव की खुशामद करने के लिए कहता है कि इसका (मालिश का) फायदा भी तो किसी चमारिन को ही मिलेगा । इसी मंगे की सहायता से हरदेव प्रीतो की अविवाहित जवान लड़की लच्छो की लाज दिन-दहाड़े लौहलक्ष लूटता है । मंगू इतना बेगैरत है कि उसके सामने उसकी बहन ज्ञानो की छातियों की तुलना कच्चे खरबूजे से की जाती है और वह चुप रहता है ।[36]

शैलेश मटियानी के उपन्यास " एक मूठ सरसों " तथा "चौथी मुट्ठी" में गांवों में फैले अनैतिक यौन-सम्बन्धों का एक लम्बा सिलसिला मिलता है । "चौथी मुट्ठी " की कौशिला का पति फौज में भर्ती है । उसके पीछे उसके पिता रतनसिंह नेगी कौशिला को बहुत त्रास देते हैं, क्योंकि कौशिला उन्हें अपने पास नहीं फटकने देती । रतनसिंह नेगी के ऐसे सम्बन्ध कौशिला की मां हौशिला (अपनी समधिन) से भी थे और इन सम्बन्धों के जरिये ही अपने पुत्र का विवाह उन्होंने कौशिला से किया था ।[37]

जातिप्रथा की समस्या : जाति-प्रथा भारतीय समाज की प्रकृति बन चुकी है । उसकी जड़ें सहस्त्राधिक वर्ष पुरानी हैं । आदिकाल से ही भारत में जाति-प्रथा का प्रचलन रहा है । पश्चिमी देशों में सामाजिक स्तरीकरण (सोसियल स्ट्रेटिफिकेशन) का आधार वर्ग रहा है, जबकि भारत में उसका मूल आधार जाति और वर्ण है । भारत में जाति की व्यापकता एवं महत्व को बताते हुए डा० मजूमदार लिखते हैं — " जाति-व्यवस्था भारत में अनुपम है । सामान्यतः भारत जातियों एवं सम्प्रदायों की परंपरात्मक स्थली माना जाता है । ऐसा कहा जाता है कि यहां की हवा में भी जाति घुली हुई है, और यहां तक कि मुसलमान तथा ईसाई भी इससे अछूते नहीं बचे हैं । "[38]

श्रीमति कर्वे का भी यही अभिमत है कि यदि हम भारतीय संस्कृति के तत्वों को समझना चाहते हैं, तो जातिप्रथा का अध्ययन नितान्त आवश्यक है ।[39] प्रख्यात समाजशास्त्री सी. एच. कुले के मतानुसार — " जब एक वर्ग पूर्णतः

आनुवंशिकता पर आधारित होता है , तो हम उसे जाति कहते हैं ।" [40] इससे यह स्पष्ट होता है कि जाति की सदस्यता जन्म पर आधारित है । कोई भी व्यक्ति अपने गुणों , संपत्ति एवं शिक्षा में वृद्धि करके या व्यवसाय परिवर्तन करके जाति नहीं बदल सकता है । व्यक्ति जिस जाति में जन्म लेता है , जीवन-पर्यन्त उसीका सदस्य बना रहता है । एक दूसरे समाजशास्त्री सर रिज़ले के शब्दों में — " जाति परिवारों या परिवारों के समूहों का एक संकलन है , जिसका एक निश्चित सामान्य नाम होता है , जो एक काल्पनिक पूर्वज मानव या देवता से सामान्य उत्पत्ति का दावा करता है , एक ही परंपरागत व्यवसाय करने पर बल देता है और एक सजातीय समुदाय के रूप में उनके द्वारा मान्य होता है जो अपना ऐसा मत व्यक्त करने के योग्य हैं । " [41]

डा० एन. के. दत्ता के अनुसार जाति में निम्नलिखित संरचनात्मक एवं सांस्कृतिक विशेषताएं निहित होती हैं — " एक जाति के सदस्य जाति के बाहर विवाह नहीं कर सकते । /2/ प्रत्येक जाति में दूसरी जातियों के साथ खान-पान के संबंध में कुछ प्रतिबन्ध होते हैं । /3/ अधिकांश जातियों के पेशे निश्चित होते हैं । /4/ जातियों में ऊंच-नीच का एक संस्तरण होता है , जिसमें ब्राह्मणों की स्थिति सर्वमान्य रूप से शिखर पर है । /5/ व्यक्ति की जाति उसके जन्म के आधार पर ही आजीवन के लिए निश्चित होती है । केवल जाति के नियमों को तोड़ने पर उसे जाति से बहिष्कृत किया जा सकता है । अन्यथा एक जाति से दूसरी जाति में जाना संभव नहीं है । /6/ संपूर्ण जाति-व्यवस्था ब्राह्मणों की प्रतिष्ठा पर निर्भर है ।[42]

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि डा० दत्ता द्वारा वर्णित जाति की विशेषताएं जाति की विस्तृत व्याख्या करती हैं , और कुछ हद तक सही भी हैं , किन्तु इसमें भी कुछ अपवाद हैं । ऐसे भी उदाहरण प्राप्त होते हैं , जब किसी राजा ने कुछ व्यक्तियों को जाति का दान देकर ऊंची जातियों में रखा हो ; जैसे मनीपुर राज्य की लोही जाति को वहां के राजा ने क्षत्रिय घोषित किया तथा उसे जनेऊ पहनने की स्वीकृति प्रदान की थी ।

एक अन्य समाजशास्त्री डा० जी.एस. घुरिये ने जाति की निम्नांकित छः सांस्कृतिक एवं संरचनात्मक विशेषताओं का उल्लेख किया है :-[43]

§1§ समाज का खण्डात्मक विभाजन / Segmental Division of Society / : जाति-व्यवस्था ने भारतीय समाज को विभिन्न खण्डों में विभाजित कर दिया है और प्रत्येक खण्ड के सदस्यों की स्थिति, पद तथा कार्य निश्चित हैं। डा० घुरिये कहते हैं कि खण्ड-विभाजन से तात्पर्य — एक जाति के सदस्यों की सामुदायिक भावना संपूर्ण मानव-समुदाय के प्रति न होकर अपनी ही जाति तक सीमित होती है। व्यक्ति की निष्ठा एवं श्रद्धा समुदाय के बजाय अपनी जाति के प्रति होती है। प्रत्येक जाति की एक जाति-पंचायत होती है, जो जाति के सदस्यों पर नियंत्रण रखती है। डा० शिवप्रसादसिंह के उपन्यास "अलग अलग वैतरणी" में चमार-जाति की तीन बटेरों §पंचायत-सभा§ के मिलने का उल्लेख हुआ है।

§2§ संस्तरण / Hierarch / : जातियों में ऊंच-नीच के रूप में संस्तरण पाया जाता है। ऊंच-नीच की इस व्यवस्था में ब्राह्मणों का स्थान शीर्षस्थ है और शूद्रों का स्थान सबसे नीचा। क्षत्रिय एवं वैश्य इनके मध्य में है। उच्च जातियां साधारणतः निम्न जातियों के सामाजिक प्रसंगों में सम्मिलित नहीं होतीं। इस जाति-संस्तरण में मध्यवर्ती जातियों की तुलना में ब्राह्मणों एवं शूद्रों की स्थिति अधिक स्थिर है, क्योंकि ब्राह्मण शीर्षस्थ हैं, शूद्र निम्नस्थ। जबकि मध्यवर्ती जातियां अपने को पासवाली जातियों से अधिक श्रेष्ठ एवं उच्च होने का दावा पेश करती रही हैं।

§3§ भोजन तथा सामाजिक सहवास पर प्रतिबंध / Restrictions on feeding and Social Intercourse / : जाति-व्यवस्था में जातियों के परस्पर भोजन एवं व्यवहार से संबंधित अनेक निषेध पाये जाते हैं। प्रत्येक जाति के ऐसे कुछ नियम होते हैं कि उसके सदस्य किस जाति के यहां कच्चा, पक्का या फलाहारी भोजन कर सकते हैं, किनके हाथ का बना भोजन व किनके यहां का पानी पी सकते हैं, किनके साथ बैठकर हुक्का-बीड़ी पी जा सकती है, किनके यहां धातु या मिट्टी के बरतनों का उपयोग अपने लिए किया जा सकता है, आदि आदि। ब्राह्मणों के हाथ का बना कच्चा व पक्का खाना सभी जातियों के लोग ग्रहण कर लेते हैं। पूड़ी, मिठाई आदि की गिनती पक्के खाने में होती है। दाल, चावल, रोटी इत्यादि को कच्चा खाना

कहते हैं । शादी-ब्याह आदि में सुबह में प्रायः कच्चा और शामको पक्का खाना बनता है । उसे क्रमशः "सकरा" और "निकरा" भी कहते हैं । ब्राह्मणों के हाथ का बना कच्चा व पक्का खाना तो सभी जातियों के लोग ग्रहण कर लेते हैं, किन्तु शूद्रों के हाथ का बना किसी भी प्रकार का भोजन उच्च जातियों के लोग स्वीकार नहीं करते । वस्तुतः इन कारणों से ही हमारा समाज खंडित होता रहा है । पानीपत के तीसरे युद्ध में शाम के समय मराठों की छावनी में अलग-अलग स्थानों पर आग के दृश्यों को देखकर अहमदशाह अब्दाली ने पूछा था कि यह क्या हो रहा है ? तभी उनके साथी सरदार ने बताया कि ये मराठा सैनिक एक-दूसरे के हाथ का बना खाते नहीं हैं, अतः अपना-अपना खाना बना रहे हैं । सुनते ही अब्दाली मारे खुशी से उछल पड़ा था कि तब तो हमारी जीत निश्चित है । आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपने उपन्यास "चारु-चन्द्रलेख " में अक्षोभ्य भैरव के द्वारा कहलवाया है — " भटिण्डा की लड़ाई में राजपुत्रों की मौल-सेना सूर्योदय में ही लड़ने को बाध्य हुई ; कल्यपाल सोये हुए थे, कलेऊ नहीं मिला ; अपराह्न तक लड़ते-लड़ते क्लान्त हो गए ; लड़ते-लड़ते खा नहीं सकते थे ; हजार बाधाएं थीं ; चौका नहीं था ; अस्पृश्य से स्पर्श का बचाव नहीं था ; शत्रु की मार से नहीं, पेट की मार से भहरा गए । " [44]

शैलेश मटियानी के उपन्यास "गोपुली गफूरन" की गोपुली शिल्पकार (चमार-हरिजन) जाति की है । ठाकुर लोग शिल्पकारों को छू जाते हैं, तो पानी छिड़क लेते हैं । वैसे उनकी स्त्रियों को चूमने-चाटने में उनका धर्म भ्रष्ट नहीं होता । इसलिए गोपुली एक स्थान पर परतिमा पधानी को कहती है — " ये ठाकुर लोग, बदन से छूए तो पानी छिड़केंगे, मगर थूक का परहेज नहीं उन्हें । " [45]

शैलेश मटियानी के ही एक अन्य उपन्यास "नागवल्लरी" की ठकुराइन गायत्रीदेवी कृष्णा मास्टर से विवाह तो कर लेती है, परंतु अपने जाति-गत संस्कारों के कारण अन्य शिल्पकारों के यहां खाने-पीने से परहेज बरतती है । तभी तो सेवाराम कहते हैं — " मगर मैं यहां बुजुर्गवारों से गुस्ताखी की माफी चाहते हुए, बिनती के साथ, लेकिन डंके की चोट पर यह कहना चाहता हूं कि जो औरत हम शिल्पकारों की बिरादरी में शामिल होकर भी हमारे हाथों का छुआ खाने को तैयार नहीं — वह ठकुरानी साहिबा नहीं, ब्रह्माणी साहिबा

हों — ऐसी हरिजन-विरोधी औरतों के हाथों का छुआ हम भी नहीं खा सकते।"[46] "लज टूटता हुआ" का कुंज ब्राह्मण-ठाकुर है, परंतु बदमी चमारिन से प्रेम करता है। शुरू-शुरू में वह भी संकोचवश दूसरों के सामने उसका छुआ नहीं खाता था।

§4§ नागरिक एवं धार्मिक निर्योग्यताएं एवं विशेषाधिकार / civil and Religious disabilities and Privileges / : जाति-व्यवस्था में उच्च-जातियों को कई सामाजिक एवं धार्मिक विशेषाधिकार प्राप्त हैं, जबकि निम्न एवं अछूत जातियों को उनसे वंचित किया गया है। खास तौर से दक्षिण भारत में अछूत जातियों पर अनेक अयोग्यताएं वा निर्योग्यताएं लादी गयी हैं। मालाबार के इजावाह लोगों को जूते पहनने, छाता लगाने एवं गाय का दूध निकालने की मनाही थी। पेशवाओं के राज्य पूना में महर एवं मंग नामक अछूत जातियों को सायंकाल तीन बजे से प्रातः नौ बजे तक शहर में प्रवेश की इजाजत इसलिए नहीं थी कि उस समय परछाईं के लम्बी होने से उसका किसी द्विज पर पड़ जाने से वह अपवित्र हो जाता था। पंजाब में हरिजन, शहर में चलते समय, लकड़ी के गट्टे बजाता था, जिससे कि लोगों को ज्ञान हो जाय कि अछूत आ रहा है और वे मार्ग से दूर हट जायें। उन्हें सड़क पर थूकने की मनाही थी, अतः थूकने के लिए वे गले के आसपास एक बरतन लटकाया करते थे।[47] अछूतों को स्कूल, मंदिर, तालाब, कुओं एवं सार्वजनिक स्थानों एवं बगीचों के उपयोग की मनाही होती थी। अछूतों की बस्तियां गांव से दूर बाहर होती थीं। कहीं-कहीं आज भी यही स्थिति है। उनकी बस्तियों को "चमादड़ी", "चमरौटी", "चमटौली" वा "चमटोल" कहा गया है।[48] इस प्रकार उच्च जातियों को प्राचीन काल से ही अनेक सामाजिक एवं धार्मिक विशेषाधिकार प्राप्त रहे हैं और इसके विपरीत अछूतों को अनेक निर्योग्यताओं से पीड़ित रहना पड़ा है। प्रसिद्ध इतिहासविद रोमिला थापर के मतानुसार ई. 300-700 के क्लासिकल-आदर्श के समय में "द्विज" शब्द का प्रयोग अधिकतर ब्राह्मणों के लिए होने लगा था। जितना अधिक बल ब्राह्मणों की पवित्रता पर दिया गया, उतना ही अछूतों की अपवित्रता पर। फाहियान सामीप्य-मात्र से अपवित्र हो जाने के भय की चर्चा करता है, अर्थात् यदि किसी "द्विज" की दृष्टि किसी अछूत पर कुछ दूर से भी पड़ जाती थी, तो वह अपवित्र हो जाता था, और उसे अपनी शुद्धि के लिए धार्मिक अनुष्ठान करने पड़ते थे। ऐसा करना धर्म-संहिताओं में वर्णित नियमों के अनुकूल था

था । " [49]

अब यह छुआछूत थोड़ा कम हुआ है ,×xxxx× परन्तु आज भी कई गांवों में इसे देखा जा सकता है । शहरों में बाहरी तौर पर यह कम हुआ है , परन्तु मानसिक अस्पृश्यता वैसी ही बरकरार है । मांएं आज भी गन्दे बच्चों को देखकर "भंगी जैसे " शब्दों का प्रयोग करती हैं । "चमार-चित्त" शब्द का प्रयोग भी जातिगत हेयता के भाव को द्योतित करता है । "अलग अलग वैतरणी" का बुझारथसिंह अपने हरिये को इसलिए बुरी तरह से है कि गलती से उसने बुझारथ-सिंह के खाने को छू लिया था । "धरती धन न अपना" का काली तथा "महाभोज" का बीरू उच्चजातीय लोगों की आंखों में इसलिए खटकते हैं कि वे निम्नवर्गीय जातियों में नयी चेतना को फूंकने का कार्य करते थे । आज भी गांवों में कोई हरिजन युवक अपने बुद्धिबल या बाहुबल से ऊपर उठने की कोशिश करता है , तो उसे बुरी तरह से कुचल दिया जाता है । सौराष्ट्र के लोधिया तालुका (तहसील) के पारड़ी नामक गांव में मुलजी तभा नामक एक हरिजन युवक किसान ने इसलिए आत्महत्या की थी कि गांव के कुछ वर्गों की ओर से उसे निरन्तर प्रताड़ित किया जाता था । वे लोग प्रभु-वर्ग के होने के कारण पुलिस भी उनके कहे अनुसार चलती थी । " टाईम्स आफ इण्डिया " में इस सम्बन्ध में रिपोर्ट दर्ज है :—
" ही सेट हीमसेल्फ एब्लेज़ एज़ ही कुड नो लोंगर एण्ड्यूर द हेरेसमेण्ट मेटेड आउट टु हीम बाय द विलेज़ एल्डर्स ... द लोकल पोलिस डीड नोट टैक प्रोम्प्ट एक्शन इन द मैटर ... ही वाज़ बीइंग ~~xxxxx~~ थ्रीटेण्ड एण्ड आल्सो प्रसराईज्ड टु लीव द विलेज़ . " [50]

(5) पेशे के अप्रतिबन्धित चुनाव का अभाव / Lack of unrestricted choice of Occupation / प्रायः प्रत्येक जाति का एक परंपरागत व्यवसाय होता है , जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरित होता रहता है । कई जातियों के नाम से ही उनके व्यवसाय का बोध होता है । प्रत्येक जाति यह चाहती है कि उसके सदस्य निर्धारित जातिगत व्यवसाय ही करें । अन्य जातियों के लोग भी एक व्यक्ति को अपना जातीय व्यवसाय बदलने से रोकते हैं । किन्तु कुछ व्यवसाय ऐसे हैं , जैसे कृषि , व्यापार एवं सेना में नौकरी जिसमें सभी जातियों के व्यक्ति काम करते हैं । मुगलकाल में ही जाति पर पेशे से संबंधित नियंत्रण शिथिल हो गए थे । तथापि आज भी प्रायः यह देखा जाता है कि

कुछ व्यवसाय जाति-विशेष से जुड़े हुए हैं । " नागवल्लरी" {शैलेश मटियानी} , "कब तक पुकारूं " { रांगेय राघव } , " जिन्दगीनामा" {कृष्णा सोबती} , "वरुण के बेटे " {नागार्जुन} , " नाच्यौ बहुत गोपाल " { अमृतलाल नागर } जैसे उपन्यासों में इसे लक्षित किया जा सकता है । "नागवल्लरी" उपन्यास में पर्वतीय अंचलों के शिल्पकारों {हरिजनों} की कथा है , जो कभी भैंस का शिकार {मांस} तक खाते थे , परन्तु इधर इनमें कुछ नये सुधार हुए हैं । अब वे यज्ञोपवित भी धारण करने लगे हैं और उनमें कुछ-कुछ बड़े-बड़े अफसर भी हो गए हैं । मरे हुए ढोरों को खींचना भी पहले उन्हीं का काम था , परन्तु इधर उनकी बिरादरी वालों ने कायदा बनाया है कि जो यह काम करने जायगा उसे बिरादरी-बाहर कर दिया जायेगा ।[51] छाना गांव के उमादत्त पुरोहित की गाय मर जाती है , तब वह चुपके से डिगरराम को बिनती करते हैं । डिगरराम कहता है -- " महराज चलता हूं । बिरादरी वालों से लड़ने की ताकत मुझमें नहीं । आप ब्राह्मण देवता हैं , आपकी न मानने से भी पाप है । मैं रात को किसी वक्त आऊंगा , तड़ी बोल चुकी है , मगर जितनी दूर भी हो सकेगा ..."[52] और उसी गाय को खींचने में डिगरराम की मृत्यु हो जाती है । नागार्जुन के उपन्यास "वरुण के बेटे " में मछुओं की जिन्दगी को चित्रित किया गया है । भोला खुरखुन , बिसुनी , रंगलाल , छित्तन , नथुनी आदि पोखरों से जाल द्वारा मछली पकड़नेका काम करते हैं । परन्तु अब जमींदारों ने पोखरों और चरागाहों को भी बेचना शुरू कर दिया है । मलाही-गोढ़ियारी गांव के जमींदारों ने वहां के पोखर भी बाहरवालों को बेच दिये , इस पर कुछ मछुए अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए कहते हैं -- " छोड़ा नहीं जाय , गढ़-पोखर पर हमेशा अपना अधिकार रहा है । जमींदार जल-कर लेता था , हम देते थे । नया खरीदार दूसरे-तीसरे गांव के मछुओं को मछलियां निकालने का ठेका देता रहेगा और हम पुश्तैनी-अधिकारों से वंचित होकर घूमते फिरेंगे । भला यह भी क्या मानने की बात है । "[53]

रांगेय राघव का "कब तक पुकारूं " उपन्यास करनटों के जन-जीवन को व्यक्त करने वाला उपन्यास है । करनट एक खानाबदोश जाति है , जो सभ्य समाज की प्रताड़नाओं से पीड़ित है । ये खेल दिखाकर पैसा कमाते हैं तो इनकी स्त्रियां शरीर बेचकर । डा० सुषमा गुप्ता इनके सम्बन्ध में लिखती

हैं — " करनट जरायमपेशा कहे जाने वाले खानाबदोश हैं । इनकी कोई नैतिकता नहीं होती । वे तरह-तरह के खेल दिखाकर पैसा कमाते हैं , पुरुष चोरी करते हैं, स्त्रियाँ शरीर बेचती हैं । वे मांस खाते हैं , शराब पीते हैं , उसके लिए शिकार भी करते हैं । स्त्रियाँ भी शराब-बीड़ी आदि पीती हैं । इसके अतिरिक्त कुमा-रियों का कंजरों में जाना , विवाह के पश्चात भी परपुरुषों के साथ रहना या उनकी रखैल बनना , पति-पत्नी के बीच आयेदिन लड़ाई-झगड़ा , मार-पीट होना , पुलिस के डर से आत्मसमर्पण करना आदि बातें करनटों के वैशिष्ट्यपूर्ण जीवन को चित्रित करती हैं । " [54]

इसी प्रकार "जिन्दगीनामा" में भी साहूकार , किसान , मौलवी, पान्दे , नायन , सुनार , आदि विभिन्न वर्गों के तथा सुल्तर , सुनार ,अरा-इयों , चिडो , कंजर , गाच्छी , धाड़ीवाल आदि विभिन्न जातियों के लोगों का जीवन चित्रित है ।

"नाच्यौ बहुत गोपाल" में हरिजनों में भी निम्न समझे जाने वाले मेहतरों के जीवन को चित्रित किया गया है । उनका पुश्तैनी पेशा ही लोगों का मैला उठाने का है । अपनी अभुक्त यौन-तृप्ति के लिए निर्गुन मोहना के साथ भाग जाती है । मोहना एक मेहतर जाति का युवक है , परन्तु किसी ठाकुर की औलाद होने के कारण उसकी छवि बड़ी दर्शनीय थी । निर्गुन उस पर मुग्ध हो जाती है । वह मोहन के साथ उसके मामा के यहाँ एक दूर के गाँव में भाग जाती है । वहाँ मोहना की माँई (मामी) निर्गुन से जबर-दस्ती मैला उठवाने का काम करवाती है । इस बात का पता जब मामा को चलता है तब वह पहले तो तैश में आकर मामी को धमकाते हैं किन्तु फिर निर्गुन से कहते हैं — " माई का कहना ठीक है । तुम्हें हमारी पुश्तैनी काम की आदत डालनी ही होगी । इसके बिना बिरादरी में मुंह कैसे दिखाओगी ? जिस घर में आई हो उसके कायदे-कानून से नहीं चलोगी तो बदनामी फैलेगी कि जरूर किसी और जात की औरत है । " [55] और आखिर सातवें रोज निर्गुन नाक पर पट्टी कसकर माई का मैला साफ करते हुए "निर्गुन" से "निर्गुनिया" मेहतरानी बन जाती है ।

आचार्य चतुरसेन शास्त्री के उपन्यास "गोली" में गोला जाति के साथ हानेवाले अमानुषी व्यवहार की बात आती है । गोले-गोलियों को

भेड़-बकरियों की तरह बेचा जाता है । उन्हें दहेज में दान दिया जाता है । दहेज में आयी गोलियों को अपने स्वामी की उपपत्नी या रखैल बनना पड़ता है । ऐसी गोलियों का विवाह उनकी ही जाति के गोलों से किया तो जाता है , पर वे कहलाने-भर के पति होते हैं । विवाह केवल इसलिए होता है कि वे गोलियों की संतानों के वैधाxxxवैधानिक पिता समझे जायें । गोली शासक-वर्ग के किसी पुरुष की अंकशायिनी होती थी , परन्तु पत्नी तो वह किसी गोले की ही समझी जाती है , जिससे उसका कभी शरीर-सम्बन्ध भी नहीं हो पाता था ।

§6§ विवाह सम्बन्धी प्रतिबन्ध / Restriction of Marriage /: जाति की एक प्रमुख विशेषता यह है कि प्रत्येक जाति अपनी ही जाति अथवा उप-जाति में विवाह करती है । जाति या उपजाति से बाहर विवाह करने वाले को जाति से बहिष्कृत कर दिया जाता है । वेस्टर मार्क ने इसे जाति का सार-तत्त्व § The essence of the Caste-System § माना है ।[58] [56] यद्यपि कुछ पर्वतीय जातियों एवं दक्षिण के नम्बूद्री ब्राह्मणों में अपने से निम्न जातियों की की लड़-कियों से विवाह करने की प्रथा भी पायी जाती है किन्तु इन्हें अपवाद ही कहा जायगा । गुजरात में पंचमहाल-बड़ौदा जिले की "बारिया" नामक जाति में पूर्व से कन्या लेकर पश्चिम में देने का रिवाज है । गुजरात की ही "मारू रबारी" जाति में लड़कियों की कमी होने के कारण वे खानदेश , दक्षिण-गुजरात §उमराट§ आदि स्थानों से "कोरी पटेल " की कन्याएं उनके अभिभावकों को कुछ रकम देकर ले आते हैं । उसी प्रकार पहाड़ी कन्याओं को भी तराई के लोग पैसे से खरीद ले जाते हैं । हालांकि अब जातिगत बन्धन शिथिल हो रहे हैं , तथापि अभी भी प्रायः विवाह इत्यादि में जाति का ध्यान तो रखा ही जाता है । आंतरजातीय विवाह अपवाद-स्वरूप पाए जाते हैं ।

गोपाल उपाध्याय कृत " एक टुकड़ा इतिहास" में सवर्ण युवक कान्तमणि द्वारा दलित युवती चनुली को अपना लेने पर कांतमणि को जिस सामा-जिक बहिष्कार को झेलना पड़ता है उसका यथार्थ चित्रण हुआ है । कान्तमणि जातिगत संघर्ष की दुर्भेx दुर्भेद्य दीवारों से सिर पटक-पटक कर परास्त हो जाता ह है और अन्त में जाति में सम्मिलित होने के लिए अपने पुत्र रतन तथा पत्नी चनुली तक का परित्याग करने को तैयार हो जाता है — " जैसी पंचों की

राय हो । आप लोग अगर अब भी मुझे अपनाने को तैयार हैं तो मैं चनुली और रतन को छोड़ सकता हूं । मुझे अब तिरस्कृत न रखा जाए । "57

"नागवल्लरी" के कृष्णा मास्टर प्रयाग विश्वविद्यालय के स्नातक हैं । वे एक बहुश्रुत विद्वान हैं, परन्तु जाति के शिल्पकार हैं । एक विधवा ठकुराइन से जब वे विवाह करते हैं, तो पूरे इलाके में एक तहलका-सा मच जाता है । इलाके का भूतपूर्व एम.एल.ए. कल्याण ठाकुर स्वयं ठाकुर जाति का होने के कारण इससे जल-भुन जाता है, परन्तु राजनीतिज्ञ होने के कारण बात को घुमा-फिराकर रखता है — " इस तरह की वारदातें इस जिले में पहले भी हो चुकी हैं । कई सवर्ण लड़कियां विजातीय विवाह कर चुकी हैं । यहां तक कि मुसलमानों से भी । चरित्रहीन औरतों को कोई समाज अपने भीतर रोक भी कैसे सकता है । सभ्य समाज तो ऐसी स्त्रियों को कर्दम समझकर त्याग देता है । जहां तक श्रीमती गायत्रीदेवी का सवाल है, ऐसी कोई बात नहीं है । वह पढ़ी-लिखी सुसंस्कृत महिला हैं, मगर यह सचमुच बड़ी खुशी और क्रांति की बात होती, अगर श्रीमती गायत्रीदेवी कुंआरी होतीं, और कृष्णा मास्टर से शादी करतीं । एक विधवा और वह भी — जहां तक मैंने सुना है — गर्भवती औरत का इस तरह से विजातीय विवाह कर लेना कोई क्रांति की बात नहीं । अभी हमें क्रांति का इन्तजार करना है और क्रांति को आज तक कोई शक्ति नहीं रोक सकी है । " 58

यहां कल्याण ठाकुर के भाषण के उक्त अंश से उसके सामन्तवादी विचारों का पता चलता है । "घटना" को "वारदात " कहना ही उनके मानस का परिचायक है । यदि ठाकुर साहब प्रगतिशील विचार वाले होते तो इस घटना का मूल्यांकन वे इस प्रकार न करते । इस प्रकार के अन्तर्जातीय विवाहों को प्रोत्साहित करने के स्थान पर, ऐसा करने वाली महिलाओं को चरित्रहीन घोषित करना उनके सामंतवादी मानस का द्योतक है । इन पंक्तियों के लेखक का एक सुना हुआ अनुभव है, जिसमें एक उच्च जाति की महिला ने कुछ हद तक निम्न वर्ग के व्यक्ति से शादी की थी । उसे बाद में हर साक्षात्कार में असफलता का मुंह देखना पड़ता था, क्योंकि चयन-समिति में बैठने वाले अधिकांश सज्जन उच्चवर्गीय होते थे, जिन्हें कल्याण ठाकुर की भांति उस महिला का कदम चरित्रहीनता का द्योतक लग सकता था

का वह कदम चरित्रहीनता का परिचायक लगता था । ऐसे में वह बेचारी दोनों तरफ से मारी जाती थी । न अवर्ण गिनी जाती थी , न सवर्ण ।

"राग दरबारी " उपन्यास में इस जातिवाद का एक बड़ा ही व्यंग्यात्मक चित्र मिलता है — " चमरही गांव के एक मुहल्ले का नाम था जिसमें चमार रहते थे । चमार एक जाति का नाम है जिसे अछूत माना जाता था । अछूत एक प्रकार के दुपाये का नाम है जिसे लोग संविधान लागू होने से पहले छूते नहीं थे । संविधान एक कविता का नाम है जिसके अनुच्छेद 17 में छुआछूत खत्म कर दी गई है क्योंकि इस देश में लोग कविता के सहारे नहीं , बल्कि धर्म के सहारे रहते हैं और क्योंकि छुआछूत इस देश का एक धर्म है , इसलिए शिवपालगंज में भी दूसरे गांवों की तरह अछूतों के अलग-अलग मुहल्ले थे और उनमें सबसे ज्यादा प्रमुख मुहल्ला चमरही था । " 59

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि भारतीय सामाजिक संस्थाओं में जाति एक सर्वाधिक महत्वपूर्ण संस्था है । "नागवल्लरी " उपन्यास के कृष्णा मास्टर एक स्थान पर कहते हैं — " आदमी कुत्ते को प्यार कर सकता है , गले लगा सकता है , लेकिन शूद्र कुल का छोटा-सा बच्चा भी इसका हकदार नहीं । .... लेकिन इस सारे वितण्डे की जड़ें आदमी के ब्राह्मण-ठाकुर वगैरा होने के भीतर नहीं है — अमीर और गरीब , शोषक और शोषित होने के भीतर है । यह जो राजनीति में हरिजन-उद्धार की आंधी आई है , इसने इस अंधेरे की जड़ों को और ज्यादा मजबूत किया है , क्योंकि यह हरिजनों को एक दूसरी तरह के सामाजिक अलगाव में धकेलने की — उनको सजातीयों की घृणा और विद्वेष की आग में झोंकने की कोशिश है । " 60

निम्नजातियों का सामाजिक एवं नैतिक शोषण

आदि-अनादि काल से निम्न जातियों का सामाजिक एवं नैतिक शोषण होता रहा है । प्रगतिशील दृष्टि-संपन्न लेखक श्री जगदीशचन्द्र के उपन्यास "धरती धन न अपना " में हरिजनों पर होने वाले अत्याचार , अपमान और उनकी आर्थिक विपन्नता की संतापत्रयी को लेखक ने गहराई से उभारा है । उपन्यास के प्रारंभिक भागमें ही चौधरी हरनामसिंह के द्वारा सन्तू और जीतू

नामक दो हरिजन युवकों को बुरी तरह से पीटने की घटना की गई है । स्वयं लेखक के शब्दों में — " चमादड़ी में ऐसी घटना कोई नई बात नहीं थी । ऐसा अक्सर होता रहता था । जब किसी चौधरी की फसल चोरी xxxxxx कट जाती या बरबाद हो जाती या चमार चौधरी के काम पर न जाता या फिर किसी चौधरी के अन्दर जमीन की मल्कियत का अहसास जोर पकड़ लेता तो वह अपनी साख बनाने और चौधर मनवाने के लिए इस मुहल्ले में चला जाता ।" 61

यहाँ किसी भी व्यक्ति के पीटे जाने के कारणों में उसका चमार होना ही पर्याप्त माना जाता है । बिलकुल यही स्थिति "कब तक पुकारूं " में करनटों के संबंध में मिलती है ।

सदियों से इन निम्न जातियों की चेतना हर ली गई है । अतः उनके मान-अपमान का कोई सवाल ही पैदा नहीं होता । बात-बेबात उन्हें "साला-कुत्ता-चमार" कहा जाता है । "धरती धन न अपना " का मंगू हरनामसिंह चौधरी का मुंहलगा नौकर है । एक बार हरनामसिंह और छज्जू शाह की बातचीत में वह कुछ कहने जाता है । तब उसे डांटते हुए हरनामसिंह कहते हैं — " कुत्ते की औलाद चुप बैठ । कुत्ता चमार अपने आपको बड़ा पंच समझता है ।" 62 वस्तुतः यह काली को सुनाने के लिए जानबूझकर कहा जाता है, क्योंकि काली शहर जाकर कुछ पढ़-लिख गया है, अतः हरनामसिंह उससे चिढ़ता है । प्रकट रूप से कुछ कह नहीं सकता, अतः यह परोक्ष ढंग अपनाता है । उपन्यास के एक अन्य पात्र संतासिंह, जो काली का मकान बनाने आया है, के मुंह से यह बात अनायास निकल जाती है — " मुझे नंदसिंह ने बताया था कि काली और निक्कू में झगड़ा हो गया है । उस समय मुझे समझ में नहीं आया था कि तेरा ही नाम काली है । सच्ची बात पूछो तो गांव में कुत्तों और चमारों की पहचान रखना मुश्किल है । आते-जाते रहते हैं ना । " 63

ऐसा ही एक दूसरा प्रसंग इसी उपन्यास में डाकमुंशी {पोस्टमैन} का मिलता है । शहर से काली का मनीऑर्डर आता है । मुंशी अस्सी रूपये के स्थान पर सवाउन्नासी रूपये देने लगता है । काली उससे तर्क करता है कि वैसे वह चाहें तो बारह आने रख लें, पर कायदा तो पूरी रकम देने का है । तब मुंशी उसका अपमान करते हुए कहता है — " अगर मुझे हाथ फैलाना होगा तो किसी

महाजन या चौधरी के आगे फैलाऊंगा , चमार के आगे नहीं फैलाऊंगा ।" 64

गाली-गलौज ही नहीं , उनकी बहन बेटियों की इज्जत से खेलना , वे अपना जन्मसिद्ध अधिकार समझते हैं । उक्त उल्लेखित उपन्यास में ही चौधरी हरनामसिंह का भतीजा हरदेव चमारिन प्रीतो की अविवाहित लच्छो की लाज दिन-दहाड़े लूटता है । हरनामसिंह भी अपनी जवानी में प्रीतो से जुड़ा हुआ था । समस्या का एक पहलू यह भी है कि इसमें मंगू जैसे चमार भी चौधरियों की कुल्हाड़ी के हाथे बने हुए हैं । मंगू इतना बेगैरत हो गया है कि उसके सामने उसकी बहन ज्ञानो की छातियों की तुलना कच्चे खरबूजे से की जाती है और वह इतनी बड़ी बात को चुपचाप खड़ा सुन लेता है । इतना ही नहीं बल्कि एक स्थान पर हरदेव को मालिश करते हुए अपनी तरफ से ही कहता है कि इसका (मालिश का) फायदा भी तो किसी चमारिन को ही मिलेगा ।

अमृतलाल नागर कृत उपन्यास " नाच्यौ बहुत गोपाल" में दलित वर्ग की निम्नतम जाति मेहतर की दयनीय सामाजिक स्थिति के कई चित्र मिलते हैं । उन्हें काम पाने के लिए रिश्वत के साथ अपनी औरत या बहन-बेटी की अस्मत का भी सौदा करना पड़ता है । द्रष्टव्य है -- " तो काम पाने के लिए अपनी औरत की इज्जत लुटाएगा हरामजादे , तुझे शर्म नहीं आती ? " "मजलूम और गरजमन्द आदमी सबकुछ कर सकता है । और तेरी इज्जत है ही कहां ? कुतिया , रण्डी और गरीब की जोरू की भला क्या इज्जत होती है ? मेरा जी न दुखाओ , कहे देता हूं , नहीं तो भगवान कसम ऐसा उब गया हूं जिनगी से कि तुझे मार-मार कर आप फांसी पर चढ़ जाऊंगा । " दूसरी स्त्री का स्वर आया -- " तुम तो बेकार पीछे पड़े हैंगे । अरे यह हाकिम लोग बड़े मुर्दार होते हैंगे । हरामजादे इज्जत की इज्जत लूटेंगे और पैसे भी पूरे नहीं देंगे । भला बताओ , एवजी की नौकरी के लिए पन्द्रह सौ रूपसे मांग रहे हैंगे । ऊपर से शर्त यह भी है कि औरत के हाथ भेजें । यह कोई भलमनसाहत हैंगी । महीने भर बाद फिर वही चरखा । अपनी औरत को कुतिया बनाओ और ऊपर से हजार-पांच सौ फिर चटाओ तो नौकरी पक्की । अन्धेर खाता है । " 65

डा० रामदरश मिश्र के उपन्यास " सूखता हुआ तालाब " में

शिवलाल एक विधुर जमींदार है । अतः वह हमेशा अपनी हलवाइनों से फंसा रहता है । शिवलाल , दयाल तथा मास्टर धर्मेन्द्र तीनों चेनइया चमारिन से शारीरिक सम्बन्ध रखते हैं । चेनइया को इनसे गर्भ भी रहता है , परन्तु लीला तथा कलावती जैसी ब्राह्मण कन्याओं के आचरण के विपरीत, वह अपना गर्भ न गिराकर समाज को एक चुनौती देने का साहस करती है ।

नागार्जुन के उपन्यास " बलचनमा" में सामन्तवादी शोषण और खेतिहर बंधुआ मजदूर की दयनीय स्थिति का यथार्थ चित्रण मिलता है । उपन्यास में बंधुआ मजदूर ललुआ की निर्मम पिटाई होती है , जो सामन्ती नृशंसता , क्रूरता एवं अत्याचारों को प्रदर्शित करती है । उपन्यास का नायक "बलचनमा" इस ललुआ का बेटा है । वह अपनी आंखों के सामने अपने पिता को दम तोड़ते हुए देखता है । बलचनमा दुहाई सरकार , दुहाई सरकार कहती और गिड़गिड़ाती तथा पैर पकड़ती दादी को भी देखता है , फफकती हुई मां और बांस की टहनियों से पीटे जाने पर अपने बाप की उधड़ी हुई खाल और करुणापूर्ण सूरत को भी देखता है । जीवन का यह कटु यथार्थ बलचनमा को क्रांतिकारी बना देता है । वह तनकर कहता है — " बेशक मैं गरीब हूं । तेरे पास सम्पदा है , कुल है , खानदान है , बाप-दादे का नाम है , अड़ोस-पड़ोस की पहचान है , जिला-ज्वार में मान है और मेरे पास कुछ नहीं है ; मगर आखिर दम तक मैं तेरे खिलाफ़ ड डटा रहूंगा । अपनी सारी ताकत मैं तेरे विरोध में लगा दूंगा । मां और बहिन को ज़हर दे दूंगा लेकिन उन्हें तू अपनी रखैली बनाने का सपना पूरा न कर सकेगा । " 66

बलचनमा किसान-मजदूरों का नेतृत्व करता है । जमींदार बौखला उठते हैं और अपने पालतू गुण्डों से बलचनमा की हत्या करवा देते हैं । "महाभोज" के बीरू को भी इसीलिए मरवाया जाता है कि वह इन गिरे-पड़े लुंज-चेतना लोगों में चेतना-पिण्डों का निर्माण कर रहा था । वह उनमें जागृति का संचार कर रहा था ।

:: शहरी प्रभावों का दबाव ::

पूर्ववर्ती विवेचन में स्पष्ट किया गया है कि हमारे यहां शनैः शनैः नगरीकरण की प्रक्रिया में क्षिप्रता आ रही है । अधिक से अधिक लोग शहरों

की तरफ भाग रहे हैं , और शहर और गांवों में लोगों का आवागमन भी पहले की अपेक्षा बढ़ गया है । इन स्थितियों में शहरी प्रभावों का दबाव ग्रामीण-जीवन-मूल्यों पर पड़ रहा है । नगरों में व्यक्तिवाद की भावना प्रबल होती है । गांव में व्यक्ति का जीवन प्रायः साझे का जीवन होता है , क्योंकि गांव कृषि-प्रधान है और कृषि अकेले व्यक्ति द्वारा संभव नहीं है । शहरों में श्रम-विभाजन एवं विशेषीकरण पाया जाता है , अतः व्यक्ति स्वयं के उत्तरदायित्वों से कतराने लगता है । वहाँ व्यक्ति दूसरों की अपेक्षा स्वयं की चिन्ता अधिक करता है । शहरी लोगों में सम्बन्धों की शीतता पायी जाती है । वहाँ प्रेम , सौहार्द, एवं आत्मीयता का प्रायः अभाव-सा दिखता है । प्राथमिक सम्बन्धों की अपेक्षा द्वितीयक सम्बन्ध , जो पारस्परिक स्वार्थ-पूर्ति से प्रेरित होते हैं , अधिक विकासमान स्थिति में पाये जाते हैं । यहाँ व्यक्ति का मूल्यांकन धन एवं गुणों से होता है , न कि परिवार एवं जाति से । अतः यह व्यक्तिवादी स्वार्थ-केन्द्रित जीवन-शैली क्रमशः गांवों में भी संक्रमित हो रही है । "नदी फिर बह चली" का जगलाल इसका उदाहरण है । पहले भाई के बच्चों का शुमार अपने ही बच्चों में होता था, परन्तु अब भाई के बच्चों को अलग समझा जाता है । डा० रामदरश मिश्र के उपन्यास "अपने लोग " में इस प्रवृत्ति को लक्षित किया जा सकता है । "जल टूटता हुआ" का बनवारी सीधा व भोला है । उसे अपने भाई धनपाल पर विश्वास है, परन्तु धनपाल के पेट में दाढ़ीवाला है । वह यह चाहता है कि बनवारी मूर्ख व आवारा बना रहे , ताकि अपने अधिकारों के प्रति सचेष्ट न रहे । काश्तकारी की आमदनी से पत्नी तथा बेटी के गहनों को बनवाकर धीरे-धीरे वह अपनी वैयक्तिक संपत्ति में इज़ाफा करता रहता है । बनवारी के बच्चों के साथ खान-पान तथा परवरिश के मामलों में भी दुभांत होती है । बनवारी की पत्नी इस बात को समझती है और वह जब-तब बनवारी को इस सम्बन्ध में टोकती भी है । धनपाल इसी कारण बनवारी की पत्नी से चिढ़ा रहता है और मौके-बेमौके अपनी पत्नी द्वारा बनवारी के कान भर कर उसे पिटवाता रहता है । बनवारी की आँख तब खुलती है , जब धनपाल की लापरवाही के कारण बनवारी के बेटे की मृत्यु हो जाती है । इसी उपन्यास में कुंजू और बीरजू जैसे भाइयों के संबंधों में भी तनाव की स्थिति को देखा जा सकता है । इसी उपन्यास के सुग्गन मास्टर को यही चिन्ता सताये रहती है कि उनका तबादला हो जाने पर पत्नी जमुना और

जवान बेटी गीता कैसे रहेगी और उनकी जमीन का क्या होगा , जबकि उनका भाई उसी गांव में रहता है । पहले व्यक्ति इस प्रकार की तमाम चिन्ताएं अपने घर-परिवार पर छोड़कर निश्चिंत भाव से नौकरी करता था , परन्तु स्वार्थी मनोवृत्ति के कारण अब घर गांवों में भी सिकुड़ रहे हैं ।

इस प्रकार यह देखा जा सकता है कि शहरों में पनप रही पूंजीवादी व्यवस्था तथा औद्योगीकरण ने ग्रामीण जीवन को अनेक स्थानों पर प्रभावित किया है । गांव का व्यक्ति जो शहर आता है , शहर की चकाचौंध में खो जाता है । शहर की हर बात को वह अहोभाव से देखता है , क्योंकि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से वह स्वयं को हीन समझता है । ठीक उसी प्रकार जैसे आज के शहर का आदमी योरोप या अमेरिका के लोगों की तुलना में स्वयं को छोटा समझता है और उनकी हर अच्छी-बुरी बात का वह अन्धानुकरण करता है । "नदी फिर बह चली" का जगलाल पटना जाकर "डलेबर" {ड्राइवर} बन गया है । जब वह शहर से आता है , तो अपनी पत्नी के लिए "क्रीम" और "पौडर" भी ले आता है । पत्नी द्वारा टिकुली की बात करने पर वह उसे देहातिन कहता है । वह उसे बीडी पीने का आग्रह भी करता है , क्योंकि शहरों में एक विशिष्ट-वर्ग की स्त्रियाँ "स्मोकिंग" करती हैं ।[67] थियेटर में आंचल को संभालकर रखने वाली पत्नी पर कुढ़ता है क्योंकि वह अन्य शहरी स्त्रियों की भांति शरीर का प्रदर्शन नहीं करती । वह चाहता है कि उसकी पत्नी परबतिया उसके मित्रों के साथ गन्दे फूहड़ मज़ाकों में शिरकत करे , क्योंकि उसी में उसे शहरीपन दिखता है ।[68]

"अलग अलग वैतरणी " का जगेसर जो पुलिस विभाग में है ,उसका व्यवहार भी जगलाल जैसा ही है । जिस प्रकार पश्चिम के अच्छे मूल्यों को — उनकी निष्ठा , प्रामाणिकता , कार्य-कुशलता , वैज्ञानिक-दृष्टि प्रभृति न लेकर उनकी गन्दी फूहड़ नकल होती है ; ठीक उसी प्रकार ग्रामीण-परिवेश में भी शहर के अच्छे मूल्यों के स्थान पर उनकी गन्दी फूहड़ नकल बढ़ रही है ।

डा० राही मासूम रज़ा के उपन्यास " दिल एक सादा कागज" में नारायणगंज के पास बसी हुई नयी बस्ती में शहरी जीवन-मूल्यों के दबाव को लेखक ने भलीभांति समेकित किया है । माला का तंग कपड़ों में साइकिल पर निकल पड़ना इसी तथ्य का द्योतक है । वहां कुछ लोग "बीफ" इसलिए खाते हैं कि लोग

उन्हें दकियानूस न समझें । ऐसे ही सस्ते-बाजारू गीतों को गाना भी ग्रामीण-जीवन में एक शहराती मूल्य बनता जा रहा है । "राग दरबारी " उपन्यास की बेला ने सारे फिल्मी गीतों को कंठस्थ कर लिया है । इसी कारण उसके द्वारा लिखा हुआ प्रेमपत्र फिल्मी-गानों का एक चिट्ठा-सा बन गया है । यथा —

" ओ सजना , बेदर्दी बालमा , तुमको मेरा मन याद करता है । पर ... चांद को क्या मालूम चाहता उसको कोई चकोर । तुम्हें क्या मालूम कि तुम्हीं मेरे मन्दिर तुम्हीं मेरी पूजा , तुम्हीं देवता हो , तुम्हीं देवता हो । याद में तेरी जाग-जाग के हम रात भर करवटें बदलते हैं । अब तो मेरी यह हालत हो गयी है कि सहा भी न जाये , रहा भी न जाये । देखो न मेरा दिल मचल गया , तुम्हें देखा और बदल गया । और तुम हो कि कभी उड़ जाये , कभी मुड़ जाये , भेद जिया का खोले ना । मुझको तुमसे यही शिकायत है कि तुमको प्यार छिपाने की बुरी आदत है । कहीं दीप जले , कहीं दिल , जरा देख तो आकर परवाने । ... पर मेरा नादान बालमा न जाने जी की बात ... एहसान तेरा होगा मुझ पर मुझे पलकों की छांव में रहने दो ... मैं तुम्हारी छत पर पहुंची वहां तुम्हारे बिस्तर पर कोई दूसरा लेटा हुआ था ... आंधियां मुझ पर हंसो , मेरी मुहब्बत पर हंसो । .... तुम कब तक तड़पाओगे ? .... तड़पा लो , हम तड़प-तड़प कर भी तुम्हारे गीत गायेंगे ... अकेले हैं , चले आओ , जहां हो तुम । लग जा गले से फिर ये ये हसीं रात हो न हो । यही है तमन्ना तेरे दर के सामने मेरी जान जाये .... हम आस लगाये बैठे हैं । देखो जी मेरा दिल न तोड़ना ... तुम्हारी याद में , कोई एक पागल । "[69]

बेला के इस पत्र से हमारी नयी पीढ़ी पर फिल्मों के पड़ रहे सत्यानाशी प्रभावों को सहज ही लक्षित किया जा सकता है । डा० ज्ञानचन्द्र गुप्त ने इस संदर्भ में लिखा है — " गांव की अनपढ़ बेला को इतनी धुनें याद रह जायेंगी इसमें शक-सुबहा की काफी गुंजाइश है । "[70] ऐसा प्रतीत होता है कि डा० ज्ञानचन्द्र गुप्त ने शायद गांवों को नजदीक से देखा नहीं है । रेडियो, फिल्म , टी.वी. इत्यादि ने ग्रामीण-संस्कृति के समूचे अभिनिवेश को इतना ~~प्रदूर्~~ प्रदूषित कर दिया है कि जिसकी कोई हद नहीं है ।

सोहर , झूमर , जच्चा , खेल के गीत , आल्हा-उदल , ननदी-

भउजइया , डोमकछ , लोरिक-संवरू , मेला-घूमनी , कबीरा , जोगीड़ा के स्थान पर अब गांवों में फिल्मी गीत चल पड़े हैं , जिसने उस समूचे अभिनिवेश को बुरी तरह से घायल कर दिया है । "नदी फिर बह चली" की परबतिया जब कई वर्षों के बाद पुनः गांव जाती है , तब देखती है कि चौदह-पंद्रह साल का लड़का खेतों के किनारे-किनारे फिल्मी गीत गाते हुए बगीचों की ओर जा रहा है — " आग लगी तन-मन में , दिलको पड़ा थामना , राम जाने कब होगा सैंयाजी का सामना । " [71]उसी प्रकार कबीर , दादू , मीरा के भजनों कि स्थान पर अब फिल्मी धुनों पर आधारित भजन चल पड़े हैं । कहीं-कहीं तो एकाध शब्द के हेर-फेर के साथ उसे भजन में तब्दिल कर दिया जाता है , जैसे "राग दरबारी" उपन्यास में निम्नलिखित भजन को गाते हुए बताया है : " लेके पहला पहला प्यार, तज के ग्वालों का संसार , मथुरा नगरी में आया है कोई बंसीधर "[72]

उसी प्रकार "सूखता हुआ तालाब " में हरिवंश पुराण की कथा के उपरांत फिल्मी तर्ज पर बने भजनों की धूम मच जाती है , यथा — " किमेरा मन डोले हो , तन डोले हो , मेरे मन का गया करार हो , कौन बजावे बांसुरिया, कि आरे किसुना कौन बजावे बांसुरिया । " [73] तथा " मोहे पनघट पर नंदलाल छेडि गयो रे , आरे मोरी नाजुक कलैयां मरोरी गयो रे । "[74]

नगरीय मूल्यों के कारण समूची ग्रामीण-संस्कृति के अभिनिवेश पर उसका बुरा प्रभाव पड़ा है । अब गांवों के मेले-ठेले तथा तीज-त्यौहार भी उल्लास-हीन होते नज़र आ रहे हैं । "जल टूटता हुआ " में डा० रामदरश मिश्र फागुन और होली की इस बदलती हुई तस्वीर पर गहरे दर्द व रंज के साथ लिखते है — " उसे याद आया , अपने बचपन का फागुन । खिचड़ी शुरू होते ही ... सरसों की पीली रंगीनी उगते ही खेतों में , गांवों में , एक अटूट मस्ती छा जाती है । फागुन आने के पहले ही आ जाता था । खेत , पगडंडियां , गांव , सभी में एक अल्हड़ मस्ती उड़ने लगती थी , गीतों की फसल झूमने लगती थी , और अब धीरे-धीरे सब खतम हो रहा है , किसी को राग-रंग की फुरसत नहीं , राग-रंग को लोग बेकार की चीज़ समझने लगे हैं । लड़के पढ़ने लगे हैं , शहरों से आते हैं तो अधकचरा शहरीपन लेकर आते हैं । वे समझते हैं कि देहाती राग-रंग असभ्यता है ; देहातीपन है । वे सिनेमा के गीत गायेंगे , होली नहीं । वे

शरीफ बनने के चक्कर में तटस्थद्रष्टा हो गए हैं , साबुन से धुले उनके शरीर पर कोई गोबर न डालने पाए । और देहात के लोग हैं , जिन्हें अब अपने काम से ही फुरसत नहीं मिलती , अपने ~~व्यवसाय~~ व्यवसाय-धंधे और खेती-बारी में के कामों में पिसते रहने और एक -दूसरे से बढ़कर चालाकी करने में उनमें होड़ मची है । अब वे जिन्दगी के राग-रंग को अड्डों और निकम्मों का काम समझने लगे हैं , सौन्दर्य और आनंद इनके हाथ से छूटता जा रहा है , जो पहले के लोगों की अभावग्रस्त ज़िन्दगी में भी एक उल्लास और मूल्य भरता था ... पहले जो पर्वों ~~और~~ -त्यौहारों और गांव के उत्सवों में सम्मिलित रूप से भाग लेने का उत्साह था वह आज मूल्यहीन मान लिया गया है । लोग इन अवसरों पर दो क्षण के लिए फर्ज-अदायगी के तौर पर शामिल होते हैं और तब भी उनका मन अपने स्वार्थ में ही अटका होता है । लड़की की शादी हो रही है पर पट्टीदार खेत में काम कर रहे हैं और शाम को बारात आने के समय फर्ज-अदायगी के लिए पट्टीदार के यहां जाते हैं , हाजिरी देकर चले आते हैं और हर आदमी अब अपने-अपने उत्सवों व कामों का बोझ अकेले कंधे पर उठाए छटपटाता है । ये उत्सव , उत्सव न रहकर , अब बोझ बनते जा रहे हैं । सामूहिकता खण्ड-खण्ड में बंटकर इकाइयों में छटपटा रही है । "[75]
डा० मिश्र का उपरोक्त विश्लेषण गांव की बदरंग और बेमज़ा होती जा रही ज़िन्दगी का कच्चा चिट्ठा है ।

गांव का पढ़ा-लिखा वर्ग अब इन मेले तमाशों में स्वयं को अजनबी-सा पाता है । मेला तो ग्रामीण-जीवन का दर्पण होता है । जैसा जीवन वैसा मेला । "अलग अलग वैतरणी " में एक स्थान पर कहा गया है — " मेला भी एक ऐसा ही है पंडित । करैता का मेला पूरी नरवण का मेला है । " [76] परन्तु यंत्र ने अब मनुष्य को भी यन्त्र बना दिया है । उत्साह और उमंग की हिलोरें अब समाप्त हो गई हैं , तो मेलों का रूप भी बदल गया है । गुलशेरखान शानी के उपन्यास "सांप और सीढ़ी " में मेजापदर के मैदान में तीन महीनों तक लगने वाले मेले की बात कही गई है । " कतार-दर-कतार दूकानें । शहर की भी , गांवों की भी । चूड़ी-फुंदने से लेकर चने-मुर्रे तक । मुर्गी से लेकर मोहनपुर की भैंस तक । फूलोआता के मटकों से लेकर फुलबाहरी तक । चारपाई के बानों से लेकर मगतू चमार तक । कई बैस-

बत्तियां जल रही हैं । कई नौटंकियां चल रही हैं। कई चक्करदार झूले पड़े हैं । कई तम्बू पड़े हैं । लड़कियां , लड़कियां , असंख्य लड़कियां । युवक और अनगिनत युवक । जोड़े और जोड़े ही जोड़े । गीत और एक नहीं , लैंजा , ठुमरी , रोसोनो , रावनोमेलो , चइंतपरब और बीसियों गीत । लाल और असंख्य साड़ियों में मचलता यौवन । पटा हुआ जवान मैदान और सैंकड़ों देवधामियों की रंग-बिरंगी झण्डियों से ढका हुआ आकाश । "[77]

इस प्रकार मेला यौवन और बसंत का ज्वार होता था । गुजरात में एक जमाने में "शामळाजी " और "तरणेतर " के मेले में बड़ी रौनक होती थी । पर अब इनकी रौनक फीकी पड़ती जा रही है । "सांप और सीढ़ी " के नगेनबाबू ठीक ही कहते हैं कि असल में वह धुरी ही नहीं रही , जिसमें ऐसे मेले-ठेले चलते थे ।[78] शहरों ने सब गड़प कर लिया है । मेले अब भी होते हैं , परन्तु अब वहां लुच्चई , नंगई और गुण्डागर्दी का बाज़ार गर्म है , जिसमें "राग दरबारी " के रंगनाथ जैसे पढ़े-लिखे लोग तो केवल अजनबी बने द्रष्टा से लग रहे हैं और सनीचर जैसे लोग हेरा-फेरी के चमत्कार में जुट जाते हैं । यथा -- " उसने ((सनीचर ने)) सैंकड़ों बुड्ढों को दायें-बायें फेंका, कई औरतों के कन्धों पर प्रेमम× प्रेम से हाथ रखा , उनकी छातियों के आकार-प्रकार का हाल-चाल लिया और यह सब ऐसी निस्संगता से किया जैसे भीड़ से निकलने के लिए ऐसा करना धर्म में लिखा हो । "[79]

"अलग अलग वैतरणी " के करैता के मेले में करैता की किसी शोख लड़की से छेड़खानी के कारण मारपीट और खून-खराबा हो जाता है ।[80] हिमांशु श्रीवास्तव के उपन्यास "नदी फिर बह चली" में भी मेलों में होने वाली ऐसी बदबदबद्र बदतमीजियों का वर्णन मिलता है -- " औरतें , अगल-बगल बचकर चलने की कोशिशें करतीं , मगर किसी -न-किसी का हाथ इधर-उधर से पड़ ही जाता । पहचानना मुश्किल था कि वह हाथ की सफाई किसने दिखलाई और औरतें मन ही मन गाली बकती हुई आगे बढ़ जातीं । "[81]

अभिप्राय यह कि शहरी दुष्प्रभावों एवं फिल्मी आक्रमण ने गांव के अधकचरे , अर्ध-शिक्षित युवक-युवतियों को अपनी चपेट में ले लिया है और उनमें कुसंस्कारों के बीज बुरी तरह से पनपते जा रहे हैं । शहरों में

लाख व्यस्तताएं होती हैं । उनका उतना दुष्प्रभाव शायद वहां न पड़ता हो, परन्तु गांवों में बेला जैसी अनेक लड़कियां इस फिल्मी माहौल में कुसंस्कारों की ग्रास होती जा रही हैं ।

"मैला आंचल " में रेणु ने यह दिखाया है कि नगरों का विषाक्त वातावरण केवल नगरों तक सीमित न रहकर भारत के सभी गांवों में फैल गया है । " आज हर आदमी के अन्दर का भूखा टामी अधीर हो उठा है । युद्ध की विषैली गैसों ने सारे समाज के मानस को विकृत कर दिया है । काले बाज़ार के अंधेरे में एक नयी दुनिया की सृष्टि हो गई है, जहां सूरज नहीं उगता, चांद नहीं चमकता, और न सितारे ही जगमगाते हैं । इस दुनिया में मां-बेटा, पिता-पुत्र, भाई-बहन, स्वामी-स्त्री जैसा कोई सम्बन्ध नहीं । "82

:: समाज में नारी की स्थिति ::

हमारे समाज में दम्भ व खोखलापन मिलता है । जिनका शोषण करना होता है, उनका वर्णन बढ़ा-चढ़ाकर किया जाता है । एक तरफ तो किसान को जगत का तात कहा गया, दूसरी तरफ रात-दिन उसकी ही लुंगोटी को खींचा जाता है । उसी प्रकार नारी को भी माता और जगज्जननी कहकर उसका निरन्तर चिर-हरण करने की प्रवृत्ति दृष्टिगत होती है । नारी का शोषण सर्वत्र हो रहा है । स्वातंत्र्योत्तर ग्रामभित्तीय उपन्यासों में नारी की इस स्थिति को लक्षित किया जा सकता है । उच्च-वर्ग की स्त्रियाँ आर्थिक दृष्टया तो चिन्तामुक्त होती हैं, परन्तु एक तरह से उनकी स्थिति पराधीन-सी होती है । पुत्री-अवस्था में माता-पिता-भाई-भाभी, युवावस्था में पति तथा वृद्धावस्था में पुत्र-पुत्रों द्वारा वह अभिशासित रहती है । "मैला आंचल " के तहसीलदार साहब की पत्नी, "अलग अलग वैतरणी " के जैपाल-सिंह ठाकुर साहब की पत्नी, "जल टूटता हुआ " के दीनदयाल की पत्नी, प्रभृति को उदाहरणस्वरूप लिया जा सकता है ।

गांवों में उच्च-वर्ग के जमींदार, ठाकुर, ब्राह्मण इत्यादि वर्ग के लोगों में पुरूष-वर्ग प्रायः अन्य स्त्रियों से जातीय सम्बन्ध रखते हैं । पहले तो दो-दो, तीन-तीन स्त्रियां रख लेते थे, अब कानून का प्रतिबंध

लगने पर , उसमें थोड़ी कमी आई है , परन्तु नारी के भाग्य में तो "सौतिया डाह " की पीड़ा दूर नहीं हुई है । यह प्रायः देखा गया है कि जहाँ जातीय-वृत्ति की तृप्ति के लिए पुरुष अपनी पत्नी पर निर्भर होता है , वहाँ वह उसके अधीनस्थ भी होता है ।[83] परन्तु जब वह इस स्थिति के लिए अन्य स्थानों को ढूंढ लेता है , तब उसे पत्नी की इस मामले में अधिक गरज नहीं रह जाती । "नदी फिर बह चली " का जगलाल पहले तो अपनी पत्नी को बहुत प्यार करता था , परन्तु बाद में जब दूसरी स्त्रियों से भी संबंध रहने लगा तब उसने पत्नी को मारपीट करना शुरू कर दिया ।[84]

अतः गांवों में जहाँ उच्चवर्गीय लोग पत्नी-इतर सम्बन्ध रखते हैं , वहां स्त्रियों की स्थिति दयनीय रहती है । "धरती धन न अपना " का हरनामसिंह प्रीतो जैसी अनेक स्त्रियों से रंगरेलियाँ मनाता है । "हौलदार" उपन्यास (शैलेश मटियानी) के थोकदार जमनसिंह तथा मेहनरसिंह के संबंध "दुरगुली पंडित्याण " से थे । "चिट्ठीरसैन" उपन्यास का थोकदार (मुखिया) तीन पत्नियों के रहते हुए भी चौथी रमौती को बिठाना चाहता है ।

"मैला आंचल " में तो ऐसे सम्बन्धों का एक लम्बा सिलसिला मिलता है । महन्त सेवादास , रामदास , लरसिंघ , नंगा बाबा आदि लछमी के पीछे पड़े हैं । रमपियरिया की माँ सात बेटों के बाप छित्तन से फंसी है । फुलिया की माँ "सिंघवा की रखैली " समझी जाती है । नोखे की स्त्री रामलगनसिंह के बेटे से फंसी है हुई है तो उचितराम की बेटी कोयर टोली के सबटन महतो से । नया तहसीलदार हरगौरीसिंह अपनी मौसेरी बहन से रासलीला रचा रहा है ।

नागार्जुन के उपन्यास "रतिनाथ की चाची" में एक गरीब विवश विधवा ब्राह्मणी गौरी के जीवन की करुणता को चित्रित किया गया है । गौरी को अपने देवर जयनाथ (रतिनाथ के चाचा) से गर्भ रह जाता है । समाज के डर से वह अपनी माँ के यहाँ जाकर गर्भ तो गिरा लेती है , पर जीवन की यह लांछना उसके लिए अभिशाप बन जाती है । समाज एवं बेटे-बेटियों से तिरस्कृत गौरी को स्नेह एक-मात्र रतिनाथ से मिलता है । बेटे के रहते हुए भी वही उसका अग्नि-संस्कार भी करता है । अंतिम

संस्कार से लौटते समय बार-बार उसके मन में एक प्रश्न कचोटता रहता है -- "अस्थि गंगा में प्रवाहित करके लौटते समय रतिनाथ के हृदय में बारम्बार यही बात उठ रही थी कि अमावस की उस रात को वह कौन था चाची ? एक घनी अंधेरी छाया तुम्हारे बिस्तरे की तरफ बढ़आयी , वह क्या था चाची ? शील और शालीनता की प्रतिमूर्ति तुमने क्यों उस धर्त का नाम नहीं बतला दिया ?"[85]

डा० घनश्याम मधुप के शब्दों में नागार्जुन " हिन्दी उपन्यास-साहित्य में प्रेमचन्द की परम्परा को विकास देते हैं । भारतीय ग्रामीण-जीवन की यथार्थ के स्तर पर गहन अभिव्यक्ति उनकी कृतियों में मिलती है । .... जैनेन्द्र , अज्ञेय आदि व्यक्तिवादी लघु-उपन्यासकारों के समकक्ष सामाजिक यथार्थ को लघु-उपन्यास विधा में प्रतिष्ठित करने का श्रेय नागार्जुन को है ।"[86]

अतः ग्रामीण-जीवन की समस्याओं का बड़ा ही सटीक व सार्थक चित्रण उनके उपन्यासों में मिलता है । उच्चवर्गीय समाज में विधवाओं की स्थिति बड़ी ही विचित्र है । विधवा-विवाह की मनाही नारी के नैतिक शोषण को एक नया आयाम देती है । गांव के प्रौढ़ों और वृद्धों के लिए विधवाएं वरदान-स्वरूप होती हैं । नागार्जुन के उपन्यास "उग्रतारा" में विधवा उग्रतारा कामेश्वर को चाहने लगती है । कामेश्वर भी उग्रतारा को खूब चाहता है । वे विवाह के लिए भी तैयार होते हैं , परन्तु पुरानी पीढ़ी के समाज के ठेकेदार इस बात को कैसे बरदाश्त कर सकते हैं । अतः उन दोनों को गांव से भागना पड़ता है , परन्तु गांववालों की झूठी रिपोर्ट के आधार पर दोनों को पुलिस द्वारा पकड़ लिया जाता है । बाद में उगनी उर्फ उग्र-तारा को पुलिस के अनेक अत्याचारों से गुजरना पड़ता है ।

उच्चवर्गीय समाज में दहेज की भी समस्या है । दहेज के कारण अनेक कन्याओं को अनमेल ब्याह की यातना से गुजरना पड़ता है । दहेज न जुटा पाने के कारण कई बार विवाह-योग्य कन्याओं का विवाह टलता जाता है । " जल टूटता हुआ" के मास्टर सुग्गन की पुत्री गीता विवाह-योग्य हो गई है । रात-दिन जवान पुत्री की चिन्ता उन्हें खाए जाती है । ग्रामीण-कन्याओं को हाईस्कूल के बाद प्रायः उठा लिया जाता है । दहेज के कारण विवाह जल्दी होता नहीं है । दूसरी तरफ बाजारू साहित्य एवं

फिल्मी गीतों का माहौल उनके अपरिपक्व मानस पर कब्जा जमा लेते हैं , फलतः जातीय-वृत्तियों की संतुष्टि के लिए वर्जित-प्रदेशों का विचरण शुरू हो जाता है । "जल टूटता हुआ " की पार्वती हंसिया नामक हरिजन-हलवाहे से आशनाई करते हुए पकड़ी जाती है ।[87] " सूखता हुआ तालाब " {डा० राम दरश मिश्र} के मास्टर धर्मेन्द्र की बहन लीला पड़ोसी गांव के अहिर रामदौना में अपनी जातीय-संतुष्टि ढूंढती है , परन्तु किसी दिन रामदौना नहीं आ पाता , तब उसकी अनुपस्थिति में , देवप्रकाश के लड़के रवीन्द्र से भी अपनी शारीरिक क्षुधा संतृप्त कर लेती है ।[88] इसी उपन्यास के शिवलाल की लड़की कलावती को अपने ही पट्टीदारी भाई धर्मेन्द्र से गर्भ रहता है ।

इस दहेज समस्या के कारण रिश्वतखोरी भी पनपती है , इसे प्रेमचन्द बहुत पहले "सेवासदन" में बता चुके हैं । "राग दरबारी " में इसे व्यंग्यात्मक ढंग से कहा गया है -- " सच तो यह है कि रंगनाथ बाबू लंगड़ ने गलत नहीं कहा था । इस देश में लड़कियां ब्याहना भी चोरी करने का बहाना हो गया है । एक रिश्वत लेता है तो दूसरा कहता है कि क्या करे बेचारा ! बड़ा खानदान है , लड़कियां ब्याहनी हैं । सारी बदमाशी का तोड़ लड़कियों के ब्याह पर होता है ।"[90]

समस्या का एक पहलू यह भी है कि दहेज के कारण लड़की की शिक्षा , सौन्दर्य आदि भी नगण्य हो जाते हैं । किसी भी , कैसी भी लड़की से विवाह कर लेते हैं , और फिर मानसिक संतुष्टि के लिए इधर-उधर का भटकाव शुरू हो जाता है । "राग दरबारी " के गयादीन की पुत्री बेला को देखने के लिए जो लोग आये हैं , उनके लिए गयादीन से मिलने वाला दहेज ही मूल्यवान है । " उसने बेला के बारे में कुछ भी जानने से इनकार कर दिया और कहा कि लड़की पढ़ी-लिखी है तो अच्छा है और नहीं है तो बहुत अच्छा है , क्योंकि मुझे उससे मास्टरी नहीं करानी है ; और लड़की सुन्दर है तो अच्छा है और नहीं है तो बहुत अच्छा है , क्योंकि मुझे उसे कोठे पर नहीं बिठाना है । "[91]

निम्नवर्गीय समाज में दहेज इत्यादि का दूषण नहीं है , परन्तु वहां स्त्रियों का शोषण उच्चवर्गीय लोगों की ओर से होता है । निम्न वर्ग

की स्त्रियों पर वे अपना अधिकार समझते हैं । "जल टूटता हुआ " की हरिजन-कन्या लवंगी के कथन में इसका कुछ संकेत मिलता है — " क्या हुआ अगर मेरे भाई ने एक बामन की लड़की से भला-बुरा किया ? ... चमार का खून खून नहीं है ? बामन का खून ही खून है ? हमारी कोई इज्जत नहीं होती क्या ? .... जब चमरोटी की तमाम लड़कियों पर ये बाबा लोग हाथ साफ करते हैं , तो कोई परलय नहीं आती और कोई चमार बामन की लड़की को छू ले तो परलय आ जाती है ... " [92]

"सूखता हुआ तालाब " के शिवलाल , मास्टर धर्मेन्द्र तथा दयाल आदि सभी उच्चवर्गीय लोग चेनइया चमारिन से शारीरिक सम्बन्ध रखते हैं । "मैला आँचल " , " धरती धन न अपना " इत्यादि उपन्यासों में इसके अनेक उदाहरण मिल सकते हैं ।

"आधा गांव " (डा० राही मासूम रज़ा) में समस्या का एक पहलू यह बताया है कि गांव में जिसकी ताकत होती है (और यह ताकत आर्थिक स्तरीयता से आती है) उसीकी दादागिरी चलती है । " पहले सैयदजादे निम्न जाति की स्त्रियों — बहुओं , बेटियों पर हाथ साफ करना अपना अधिकार समझते थे , अब रहमत जुलाहा का लड़का बरकत , जो अलीगढ़ में पढ़ता है , सैयद जादी कामिला (हुसैनअली मियां की लड़की) से इश्क फरमाता है , क्योंकि हुसैनअली मियां के ही शब्दों में " जौन खूंटे पर अकड़ते रहे तौन खुंटवै कट गया " [93] सारी जोर-जबरदस्ती जमींनदारी की ही तो थी । फुन्ननमियां ने हुसैनअली मियां को बिलकुल ठीक कहा है — " जब जमींदारियां रहीं तब तू कौनो जोर-जबरदस्ती न किये रह्यो । का ई हमें ना मालूम कि तू रहमतवा की बहन से फंसे रह्यो ? तूं जमींदार न रहे होतो त का ओ तारी बहिनियां न चोद देता ? कल तोरा बखत रहा , आज बरकत का बखत है । " [94]

गांवों में जो फौजदारियां और पुश्तैनी दुश्मनियां चलती हैं , उनमें भी स्त्रियों पर ही कहर टूटता है । मणि मधुकर के उपन्यास "सफेद मेमने" में इस तथ्य को उद्घाटित किया गया है । गाबासी और बराऊ इन दो ढाणियों (छोटे गांव) में पुश्तैनी बैर चल रहा है । कभी गाबासी का कोई

जवान बराऊ की किसी राजपूतणी को पकड़ लाता है तो उसी बैर की पूर्ति के लिए गाबासी की किसी जाटणी को पकड़ा जाता है । इस पर बड़ा तीखा मार्मिक व्यंग्य करते हुए लेखक कहता है -- " गाबासी का कोई तगड़ा जवान भी हाथ पड़ने पर बराऊ की किसी राजपूतणी को पकड़ लाता था और बदला लेने के लिए उसकी "दुर्दशा " करके छोड़ता था । तब तमाम जाट "गरब " में ऐंठते हुए डोलते थे । कल्पनाओं के जोर पर बराऊ की सभी "चम्पाकलियों " से अपने जिस्मानी रिश्ते जोड़ने लगते थे । दोनों ढाणियों की बहादुरी औरतों के बूते पर जगमग थी । " 95

रामकुमार भ्रमर द्वारा लिखित " कांचघर " उपन्यास में तमाशा संच , नौटंकी आदि में काम करने वाली औरतों की स्थिति का जायजा मिलता है । हालांकि प्रशासकीय प्रयत्नों से उन्हें "कलाकार " का पद तो मिलता है , परन्तु समाज में उन्हें आज भी हेय दृष्टि से ही देखा जाता है । "कांचघर " की कावेरीबाई , माला , और रत्ना जैसी बाइयों को गांव-खेड़े के छोटे-मोटे स्थानीय नेताओं से लेकर पुलिस कमिश्नर तक को "खुश " करना पड़ता है , अन्यथा उन्हें "म्याद-खत्मी " का नोटिस दे दिया जाता है । अतः समाज की दृष्टि में "संच " को रण्डीखाना या भड़वाखाना ही माना जाता है ।-- " तमाशे वाली औरत का क्या विश्वास ? वह साली पंचायत का दफ्तर होती है । मोची से लेकर पण्डित तक उसमें जा सकता है ... वह सबकी और किसी की नहीं ।" 96 माला के शब्दों में "संच " की औरत "नहानेका पानी " होती है और नहाने और पीने के पानी में हमेशा अन्तर किया जाता है । " 97

भारत में ग्रामीण तबकों में स्त्रियों की अवदशा का कारण ग़रीबी एवं अशिक्षा है । इसके कारण शारीरिक एवं आरोग्य की दृष्टि से भी स्त्रियों की हालत अच्छी नहीं कही जा सकती । इस सम्बन्ध में विख्यात अर्थ-शास्त्री Radar Datt एवं K.P.M. Sundharm लिखते हैं -- " द रिमुवल आफ पोवर्टी इन द वेस्टर्न कंट्री हेज़ हेल्पड द फिमेल्स टु ओवर कम द बायोलोजिकल डिसएडवान्टेजिस एसोसिएटेड विथ द लाईफ आफ विमेन, बोथ एट द टाईम आफ पुबर्टी एण्ड एट द टाईम आफ रीप्रोडक्शन . ए बेटर हेल्थ स्टाण्डर्ड आफ द फिमेल्स , थेट इज़ ए कोन्सेक्वीन्स आफ

द प्रिवेलेन्स आफ हायर इनकम लेवल्स , ओल्सो प्रोवाइड्स थेम इन्टरर्नल रीजिलियन्य अगेंस्ट डीसीज़ . लो लेवल्स आफ लीविंग आर एकंपनेड बाय लो लेवल्स आफ एज्युकेशन , पुअर हेल्थ , अनहाइजिनिक लीविंग कंडीशन्स एक्सेट्रा.[98].

इसी प्रकार रांगेय राघव कृत " कब तक पुकारूं " तथा अमृतलाल नागर कृत " नाच्यौ बहुत गोपाल " में क्रमशः करनटों एवं मेहतरों की जिन्दगी को चित्रित किया गया है । पूर्ववर्ती पृष्ठों में निर्दिष्ट किया गया है कि उनकी स्त्रियों को भी सार्वजनिक उपयोग-उपभोग की वस्तु माना जाता रहा है । संक्षेप में कहा जा सकता है कि स्त्री चाहे उच्चवर्ग-वर्ण की हो या चाहे निम्नवर्ग-वर्ण की हो —— शोषण दोनों का हो रहा है ।

:: ग्रामीण समाज में वृद्धों की स्थिति ::

समाज में वृद्धों की एक विशिष्ट भूमिका होती है । उनके ज्ञान व अनुभव का उपयोग किया जा सकता है । कालिदास के मेघदूत में भी "उदयन-कथा-कोविद" ग्रामवृद्धों की बात आती है । भारतीय संस्कृति में हमेशा वृद्ध-जनों को आदर की दृष्टि से देखा जाता है , परन्तु पारिवारिक विघटन की प्रक्रिया से अब वृद्धों की स्थिति शोचनीय होती जा रही है । अमरिका के एक वृद्ध ने मरणोपरान्त अपनी तमाम सम्पत्ति , जो लाखों की थी , एक डाकिये के नाम कर दी , क्योंकि निवृत्ति के बाद बाह्य-जगत से उसका संपर्क केवल डाकिये के द्वारा बना रहा था । उसके बेटे , नाती-पोते-पोतियां , भरा-पूरा परिवार था , पर उसे मिलने कोई नहीं आता था ।[99]

परिवार की व्याख्या अब सिमट रही है । हम अधिकाधिक स्वार्थी व चीज़-परस्त होते जा रहे हैं । मां-बाप के प्रति अपने कर्तव्यों को भुलाकर हम अपनी संतानों को कौन-से संस्कार विरासत में देने जा रहे हैं ? वृद्धों की दयनीय-स्थिति की क्रमिक स्तरीयता गांव-नगर-पश्चिम के रूप में देखी जा सकती है ।

नगरीय मूल्य (या अमूल्य) अब गांवों में भी संक्रमित हो रहे हैं , अतः धीरे-धीरे यहां के वृद्धों की स्थिति में भी अंतर आता जा रहा है ।

पहले माँ-बाप या बुजुर्गों की आमन्या रखी जाती थी , अब उसमें अवमूल्यन आ रहा है । "राग दरबारी" का रूप्पन अपने ही पिता वैद्यजी के सम्बन्ध में एक स्थान पर कहता है — " पिताजी क्या खाकर नाराज़ होंगे । उनसे कहो , मुझसे सीधे बात तो कर लें । ... उनकी ~~xxx~~ शादी चौदह साल की उमर में हुई थी । पहली अम्मा मर गईं तो सत्रह साल की उमर में दूसरी शादी की । साल-भर भी अकेले रहते नहीं बना । ... यह तो किया कायदे से , और बेकायदे कितना किया , सुनोगे वह भी ... । "[100]

इसी उपन्यास का छोटू पहलवान अपने पिता कुसहरप्रसाद को बुरी तरह से पीटता है । सनीचर समझाते हुए कहता है — " धरती-धरती चलो । आसमान की छाती न फाड़ो । आखिर कुसहर ने तुम्हें पैदा किया है , पाला-पोसा है । " [101] तब भुनभुनाते हुए छोटू कहता है — " कोई हमने स्टाम्प लगाकर दरखास्त दी थी कि हमें पैदा करो । चले साले कहीं के पैदा करने वाले । " छोटू पहलवान के उस्ताद बद्री पहलवान बीच-बचाव करते हुए कहते हैं — " बहुत हो गया छोटे । अब ठण्डे हो जाओ । " [102] तब एक लम्बी साँस खींचकर छोटू कहता है — " तुम भी मुझीको दबाते हो गुरु । तुम जानते नहीं , यह बुड्ढा बड़ा कुलच्छनी है । इसके मारे कहारिन ने घर में पानी भरना बन्द कर दिया है । और भी बताऊं ? अब क्या बताऊं ? कहते जीभ गंधाती है । " [103]

कुसहरप्रसाद का व्यवहार भी अपने पिता की तरफ ठीक नहीं था । " इनके बाप गंगादयाल जब मरे थे तो यह उनकी अर्थी तक नहीं निकलने दे रहे थे । कहते थे कि घाट तक घसीटकर डाल आयेंगे । " [104] "जल टूटता हुआ" के रामकुमार की भी अपने पिता से पटती नहीं है , और रात-दिन उनमें झगड़े चलते रहते हैं , क्योंकि बनवारी फक्कड़-मनमौजी प्रकृति के हैं और घर के कामों में ध्यान देने की अपेक्षा आयेदिन मेहमानी करते और सुरती फांकते रहते हैं ।

:: ग्रामीण-समाज में बच्चों की स्थिति ::

ग्रामीण-समाज में बच्चों की स्थिति वर्ग-सापेक्ष है । उच्च-वर्ग

के बच्चे तो शहर जाकर हाईस्कूल व कालेज में पढ़ते हैं , प्रश्न्× परन्तु निम्न-मध्य -वर्ग के बच्चे दो-तीन कक्षाओं के बाद या तो पढ़ते ही नहीं है , या फिर गांव में जैसी भी शिक्षा मिलती है , वैसी और वहां तक ग्रहण करते हैं । वे खेतीबाड़ी , ढोर-डंगर चराना तथा मछली मारना जैसे काम बचपन से ही करते हैं । " धरती धन न अपना " के "घोड़ेवाहा" गांव में हरिजनों में केवल काली ही थोड़ा-बहुत पढ़ लेता है , क्योंकि वह शैशव-काल से ही शहर भाग गया था । "जल टूटता हुआ " के रामकुमार , सतीश और चन्द्रकान्त इत्यादि तो पढ़ लेते हैं । रामकुमार एम.ए. हैं और चन्द्रकान्त आई.ए.एस. कर लेता है , परन्तु गांव के निम्न और मध्य-वर्ग के बच्चों में से कोई पढ़ नहीं सकता । इस अवस्था में वे आवारागर्दी और लौंडियागिरी करते रहते हैं ।

शैलेश मटियानी के उपन्यास "हौलदार" में लेखक ने कुमाऊं प्रदेश के "धौलछीना" नामक गांव के लड़के-लड़कियों का ढोर-डंगर चराने जंगल में जाना और वहां तरह-तरह के जोड़-छन्द गाने का उल्लेख किया है । इन बच्चों में ज×x जातीय-विषयों की सतर्कता कुछ पहले ही आ जाती है । इस सम्बन्ध में डा0 गौरी आर. बेनरजी ने अपने अध्ययन में लिखा है -- " सोसियल कान्टेक्ट इन विलेजिस इज़ डायरेक्ट एण्ड अनकन्वेन्शनल , पिपल डु नोट ट्राय टु रीस्ट्रेइन फ्रोम होल्डिंग कन्वरसेशंस ओन सेक्स टोपिक्स ; इन द जोक्स टू , द टोपिक्स आफ सेक्स प्ले नो स्मोल पार्ट . ओन द कन्ट्री साईड एसोसिएशन बिटवीन बोइज एण्ड गर्ल्स इज़ मच मोर फ्री धैन इन सिटीज़ एण्ड केसिस ओफ सेक्स-ओफेन्सीस अकर समटाईम्स व्हेन थे आर नोट वेल चेपरोहेड ... यंग गर्ल्स एण्ड बोइज़ इन विलेजिस ओफन डेवेलोप प्रीमेच्योर सेक्स इन्टरेस्ट . द रूरल एनवायरोमेण्ट , बोथ फिजिकल एण्ड सोसियल , कन्ड्यूसीस टु अर्ली नोलेज ओफ सेक्स , एक्वायर्ड नोट ओन्ली फ्रोम क्लोज कोन्टेक्ट वीथ फार्म एनिमल्स एण्ड अधर बीसाइड्स एण्ड द फ्री टोक्स ओफ एल्डर्स , स्पेसियली विमेन . "[105]

गांवों में बच्चे छुटपन से ही बड़े लोगों के नैतिक-अनैतिक लैंगिक सम्बन्ध खेतों , जंगलों और नदी-नालों में देखते रहते हैं । पशु-पक्षियों के यौन-सम्बन्ध भी वे नजदीक से देखते हैं । गांव की बड़ी-बूढ़ी औरतें भी बच्चोंके सामने गन्दे मज़ाक करती रहती हैं ।[106] इन सबके परिणामस्वरूप बच्चे उन

तमाम बातों को पहले से ही जान लेते हैं , जो उन्हें उस उमर में नहीं जानना चाहिए ।

"अलग अलग वैतरणी " में कल्पू और गोपाल छोटी वय में ही गंदी यौन विकृत्तियों के शिकार हो जाते हैं । उसी उपन्यास में प्राथमिक स्कूल के हेड-मास्टर मुंशी जवाहिरलाल अपने ही छात्र रामचेलवा से सजातीय सम्बन्ध रखते हैं । डा० राही मासूम रज़ा ~~xxxxxxxx~~ के उपन्यास " आधा गांव " का कमालुद्दीन उर्फ कम्मो के साथ तफ्कनमियां सृष्टि-विरूद्ध का कार्य करता है ।[107] फलतः दूसरे बच्चे उसे चिढ़ाते हैं । उसकी मां जवादमियां की रखैल है । मां की यह कलंक-गाथा कम्मो में हीनता-ग्रंथि को जन्म देता है , जिससे वह दूसरे बच्चों से कतराता रहता है । ऐसा बच्चा एकान्तप्रिय हो जाता है और उसमें हस्तमैथुन जैसी काम-विकृतियां पनपती हैं ।

डा० रज़ा के ही उपन्यास "दिल एक सादा कागज" में ग्रामीण एवं शहरी दोनों प्रकार का परिवेश मिलता है । इस उपन्यास का रफ्फन शैशव-काल में ही माली - दुखिया को उसकी पत्नी के साथ संभोग करते हुए देख लेता है । इसके उपरान्त अपने छुटपन में ही वह भाई जानू और गुलछरी के संबंध , भाई जानू और जन्नत बाजी के संबंध , मौलवी साहब तथा बावर्ची अब्दुस्समद खां दोनों के नौकर सफ़्वा के साथ के घृणित सम्बन्धों को जान चुका है । ऐसी अवस्था में उसके कच्चे मन पर पड़ने वाले प्रभावों को हम ~~xxxxxxxx~~ समझ सकते हैं । अतः "आधा गांव " के सद्दन , कम्मो , ~~xxxxxx~~ मिगदाद तथा "दिल एक सादा कागज " के "आतिश " में यौनाकर्षण अल्पायु से ही शुरू हो जाता है , जिसके कारण इन बच्चों के मानस पर बड़ा बुरा असर पड़ता है ।

श्रीलाल शुक्ल के बहुचर्चित उपन्यास "राग दरबारी" में गांव के बच्चे व किशोर शिक्षा व योग्य मार्गदर्शन के अभाव में कैसे आवारागर्दी करते रहते हैं तथा जुआ खेलते रहते हैं , उसका यथार्थ चित्रण किया है । विरोध-पक्ष के रामाधीन भीखमखेड़वी इन्हें ताश के नये-नये कमाल सिखाते हैं । रामाधीन-भीखमखेड़वी अफीम का अवैध व्यवसाय भी चलाते हैं , और किशोरों को उसके फायदे भी समझाते हैं ।[108]

शिवपालगंज की अमराइयों में कच्ची-किशोर वय के लोग जुआ खेलते हैं -- " शिवपालगंज में इन दिनों इंसानियत का बोलबाला था । लौंड़े

दोपहर को घनी अमराइयों में जुआ खेलते थे । जीतने वाले जीतते थे , हारने वाले कहते थे —" यही तुम्हारी इंसानियत है ? जीतते ही तुम्हारा पेशाब उतर आता है । टरकने का बहाना ढूंढने लगते हो ।" कभी-कभी जीतनेवाला भी इंसानियत का प्रयोग करता था । वह कहता — " क्या इसी का नाम इंसानियत है । एक दाव हारने में ही पिलपिला गये । यहां चार दिन बाद हमारा एक दांव लगा तो उसी में हमारा पेशाब बन्द कर दोगे ? "[109]

इस प्रकार शिक्षा के समुचित संसाधनों के अभाव में ग्रामीण बच्चों व किशोरों में यौन-विकार , जुआ , व्यसन आदि कुसंस्कार हावी हो रहे हैं । फिल्मों और वीडियोने इसमें इज़ाफा ही किया है । अश्विनीकुमार के उपन्यास "उभरते प्रश्न " में ग्रामीण-किशोरों द्वारा "ब्लू फिल्म " के देखे जाने का उल्लेख मिलता है ।[110] स्मैक , कोकिन , हेरोइन , हशिश , अफीम जैसी महाविनाशक एवं भीषण ड्रग्स का सेवन भी एक समस्या है ।

:: वृद्ध-विवाह की समस्या ::

गरीबी के कारण कई मां-बाप समय रहते अपनी पुत्रियों का विवाह करा देने में असमर्थ रहते हैं , फलतः कई बार सोलह-सत्रह साल की लड़की का विवाह चालीस-पचास या उससे भी अधिक उम्र के व्यक्ति के साथ कर दिया जाता है । प्रेमचन्द के "निर्मला" उपन्यास में इस समस्या का भली-भांति चित्रण हुआ है । स्वातंत्र्योत्तर ग्रामभित्तीय उपन्यासों में भी ऐसी अनेक घटनाओं का विवरण उपलब्ध होता है । शैलेश मटियानी के उपन्यास "चिट्ठीरसैन " का जमनसिंह थोकदार तीन-तीन पत्नियों के रहते रमौती जैसी मुग्धा किशोरी से विवाह करने की सोचता है । नागार्जुन के उपन्यास "उग्रतारा " में उगनी नामक एक युवती का भभीखनसिंह नामक एक प्रौढ़ पुलिस-कर्मचारी से जबरदस्ती विवाह करा दिया जाता है — " भभीखनसिंह ने वैदिक विधियों से शादी की थी । ठीक है , आधे घण्टे तक अग्नि में आहुतियां डाली गईं थीं । ठीक है , हवन के धुएं ने बहुतों की आंखों को आनंद के आंसुओं से गीला कर दिया था । ठीक है , तोला भर सिन्दूर

मांग के बीचोंबीच कई दिनों तक जमा रहा । सबकुछ ठीक है । लेकिन स्त्री-पुरुष के बीच इतना बड़ा फासला किस तरह मखौल उड़ा रहा था विवाह के संस्कारों का । बाबू भभीखनसिंह को कानूनी तौर पर बलात्कार का हक हासिल हुआ । "।।। वि.स. खांडेकर के उपन्यास "उल्का" (अनुवादक रा.र. सर्वटे) में उल्का एक आदर्शवादी पिता की पुत्री है । निर्धनता के कारण उसे एक चालीस-वर्षीय विधुर बाबूराव से के साथ विवाह करना पड़ता है ।

अमृतलाल नागर कृत " नाच्यौ बहुत गोपाल " की निर्गुन का विवाह भी मसूरियादीन नामक एक बूढ़े और शंकालू व्यक्ति से कर दिया जाता है । मसूरियादीन निर्गुन के यौवन को छककर भोगना चाहता है । पर शरीर साथ नहीं देता । मसूरियादीन की यह काम-लिप्सा निर्गुन को तृप्ति तो देती नहीं , बल्कि उसकी काम-क्षुधा को दीप-शिखा बना देती है । अतः बूढ़ा मसूरियादीन उसे कहीं जाने नहीं देता और ताले में बन्द कर देता है । हवेली में दिन भर में केवल एक बार किसी मनुष्य की सूरत दिखाई देती है । वह भी संडास साफ करने वाली मेहतरानी की । एक बार मेहतरानी के छुट्टी जाने पर उसका जवान बेटा सफाई के लिए आता है और निर्गुन को अपनी काम-तृप्ति का एक रास्ता मिल जाता है । वह उसे पटाकर लड़के से पुरुष बना देती है । उसके प्रेम में अन्ध होकर निर्गुन उसके साथ भाग जाती है और "निर्गुन " से "निर्गुनिया" मेहतरानी बन जाती है ।

नागार्जुन कृत "पारो" उपन्यास में लेखक ने म मिथिला के वैवाहिक जीवन का दर्शन प्रस्तुत किया है । तेरह वर्षीया पितृहीन पारो का विवाह 45 वर्षीय चौधरी से हो जाता है । इस आयु में चौधरी विवाह तो कर सकता है , चतुर्थी की रात में दस रुपयेके दस नोट फैला सकता है , किन्तु उसकी सहज कामना को पूर्ण नहीं कर सकता । कुंठित-वासना की खीज में चौधरी दिन-ब-दिन गुस्सैल होता जाता है । पारो के ही शब्दों में — " दानव है ऐसा आदमी । इस तरह के जंतु से तो अलग रहने में ही खैरियत है । " एक पुत्र को देकर पारो स्वर्ग सिधार गई । पारो-पुत्र फेकू नानी का कंठहार बन गया और उसी बैसाख में चौधरीजी ने फिर शादी कर ली ।

~~हिन्दू-मुस्लिम की समस्या~~ :

:: हिन्दू-मुस्लीम की समस्या ::

भारतीय समाज को हिन्दू-मुस्लीम वैमनस्य की समस्या अंग्रेजों की देन है । "फूट डालो और राज करो " की नीति के कारण भारत की इन दो संख्या-बहुल कौमों में हमेशा-हमेशा के लिए ज़हर के बीज बो दिए गए हैं । स्थिति की यह कितनी बड़ी विडंबना है कि मुसलमानों के बाद आये हुए ईसाइयों के साथ कौमी दंगे कभी नहीं होते । पूर्ववर्ती विवेचन में यह स्पष्ट किया गया है कि प्रेमचन्द के कई उपन्यासों में इस समस्या को उठाया गया है ।

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों में "तमस" , "एक पंखुड़ी की तेज़ धार " , " प्रश्न और मरीचिका" , "काला जल" , "झूठा सच" जैसे मिश्रित परिवेश वाले §ग्रामीण-शहरी§ उपन्यासों में इस समस्या को समेकित किया गया है ।

भीष्म साहनी कृत "तमस" उपन्यास में साम्प्रदायिक दंगे किस प्रकार बढ़ते हैं , उनमें गहमा-गहमी किस प्रकार आती है , अफवाहें तूल पकड़ते हुए कौमी भावना के अंधकार को कैसे गहराती है और अमानुषिकता की विभीषिका कैसे नंगा नाच खेलती है , इन सब बातों को बड़ी सूक्ष्मता से उकेरा गया है । उपन्यास के प्रारंभ में ही मुरादअली नामक एक पात्र नत्थू चमार को सालोतरी साहब का हवाला देकर एक सूअर मारने का आदेश देता है । मुरादअली नत्थू चमार को जब-तब ऐसे काम देकर उसकी कुछ सहायता कर देता था । उस दिन भी वह उसे इस काम के लिए पांच रुपये देता है । इसका भेद तो बाद में खुलता है , जब हम पढ़ते हैं कि किसीने सूअर को मारकर मस्जिद के आगे डाल देने से दंगे फैल रहे हैं । इसके जवाब में मुसलमान किसी गाय को मारकर मंदिर के सामने फिंकवा देते हैं और दंगे भड़क उठते हैं । शहर का यह ज़हर गांवों में भी फैलता है , और सैयदपुर , खानपुर , ढोकइलाही , नूरपुर आदि सभी गांव सुलगने लगते हैं । दंगों में अंग्रेजों की भूमिका का एक बड़ा ही सुन्दर उदाहरण उपन्यास में मिलता है । जब शहर में हिन्दू-मुसलमानों के बीच फिसाद हो जाता है , तब डिप्टी कमिश्नर रिचर्ड की पत्नी लीज़ा उससे पूछती है कि उसने फिसाद क्यों होने दिया ? ये लोग आपस में लड़ें , क्या यह अच्छी बात है ? तब रिचर्ड हंसकर जवाब देता है — " क्या यह

अच्छी बात होगी कि ये लोग मिलकर मेरे खिलाफ़ लड़ें , मेरा ख़ून करें ? ... कैसा रहे अगर इस वक्त ये आवाज़ें मेरे घर के बाहर उठ रही हों , और ये लोग मेरा ख़ून बहाने के लिए संगीनें उठाए बाहर खड़े हों ।" 112

भारत-पाकिस्तान के विभाजन ने दोनों तरफ के लोगों के मानस को विकलांग और विकृत कर दिया है । " भारतीय मुसलमान चाहें जितने राष्ट्रीयता के दावे करें या राष्ट्रीय बनें , इस देश में सदा ही उनका चरित्र संदिग्ध बना रहेगा । " 113 "काला जल" उपन्यास के मोहसिन के रूप में मानो गुलशेरखान शानी ही बेलाग व बेबाक होकर कह रहे हैं -- " यहां जिन्दगीभर बीच के आदमी बने रहोगे , न इधर के न उधर के । " 114

:: वेश्या-समस्या ::

निर्धनता तथा शहरी दबावों के कारण गांवों में वेश्या-समस्या भी शनैः शनैः अपना ज़हर फैला रही है । ग्रामीण-परिवेश में निम्न जाति की स्त्रियों के साथ जो यौन-सम्बन्ध चलते हैं , उन्हें भी एक तरह से तो वेश्या-गिरी ही समझा जायेगा । धार्मिक मठों की सधुआइनों तथा देवदासियों के साथ जो व्यवहार किया जाता है उसकी चर्चा धार्मिक समस्याओं के सन्दर्भ में की जाएगी । यहां तो केवल पारम्परिक रूप में जिसे वेश्या कहा जाता है , उसकी ही चर्चा अभीष्ट है । औद्योगिकरण के कारण कुछ गांवनुमा बस्तियां बड़े शहरों के आसपास बन रही हैं । जैसे " दिल एक सादा कागज " की नारायणगंज की बस्ती । नगरों के चौमुखी भौगोलिक विकास के कारण कुछ गांव भी शहरों की चपेट में आ गये हैं । इसके अतिरिक्त कुछ औद्योगिक इस्टेट ग्रामीण-विस्तारों में पनप रहे हैं । परिणामस्वरूप बाहर के लोगों का जमावड़ा इधर-उधर हो रहा है । उनके कारण ग्रामीण-विस्तारों में जोर पकड़ती जा रही है । वैसे यह समस्या आर्थिक पहलुओं से अधिक सम्बद्ध है , अतः उसकी विधिवत् विस्तृत चर्चा "आर्थिक समस्या" वाले अध्याय के अन्तर्गत होगी ।

<u>निष्कर्ष</u> : अध्याय के समग्रालोचन के उपरान्त हम निम्न-

लिखित निष्कर्षों तक सहजतया पहुँच सकते हैं :-

§1§ मानव-जीवन की समस्याएं एक श्रृंखला की भांति होती हैं । जैसे श्रृंखला की कड़ियाँ परस्पर जुड़ी हुई होती हैं , उसी प्रकार सामाजिक समस्याएं , आर्थिक समस्याओं से और आर्थिक समस्याएं अन्य प्रकार की समस्याओं से जुड़ी हुई रहती हैं ।

§2§ समस्या देशकाल-सापेक्ष या स्थिति-सापेक्ष होती है । कई बार समस्या तो पहले से ही विद्यमान होती है , परन्तु समस्या-विशेष की तरफ ध्यान किन्हीं विशेष परिस्थितियों में ही जाता है । प्रेमचन्द-युग के लेखकों में सामाजिक समस्याओं के प्रति जो विशेष रूझान मिलती है , उसकी पृष्ठभूमि में ब्रह्मोसमाज , प्रार्थनासमाज तथा आर्यसमाज जैसे सुधारवादी आंदोलन रहे हैं ।

§3§ समाज की कतिपय जातियों की दुर्दशा के ~~विx~~ पीछे उनकी अपनी कुछ आत्मकुण्ठाएं हैं , जो सहस्त्राधिक वर्षों की विपन्नता , परावलंबिता, एवं मानसिक अवहेलनाओं का परिणाम है ।

§4§ स्वाधीनता के उपरान्त स्वार्थी , स्वकेन्द्रित मनोवृत्तियां पुनः प्रबल हो उठीं हैं । लोगों का ध्यान परिश्रम से हटकर भ्रष्टाचार के शार्ट-कट की ओर अधिक जा रहा है । फलतः सभी सामाजिक क्षेत्रों में मूल्यों की गिरावट दृष्टिगत हो रही है ।

§5§ औद्योगिकरण , नगरीकरण तथा शिक्षा के प्रचार-प्रसार के साथ गांवों में भी संयुक्त परिवार में विघटन की प्रक्रिया शुरू हो जाती है ।

§6§ आज़ादी के उपरान्त गांवों में टूटन और बिखराव की प्रक्रिया अधिक तेज़ हो गई है । ग्रामीण-प्रतिभाएं शहरों की तरफ आकर्षित हो रही हैं ।

§7§ जीवन-मूल्यों का ह्रास तीव्रतर व क्षिप्रतर होता जा रहा है ।

§8§ जाति-प्रथा के परिणामस्वरूप समाज में खण्डात्मक विभाजन , संस्तरण , ~~xxxx~~ भोजन तथा सामाजिक सहवास पर प्रतिबंध , नागरिक एवं धार्मिक निर्योग्यताएं एवं विशेषाधिकार , जातिगत व्यवसाय , विवाह-संबंधी प्रतिबन्ध प्रभृति के कारण अनेक सामाजिक समस्याएं दृष्टिगत हो रही ~~x~~ हैं ।

§9§ निम्न-श्रेणी की जातियों का सामाजिक एवं नैतिक शोषण अभी भी हो रहा है ।

§10§ शहरी दबावों के कारण ग्रामीण जीवन-मूल्य चरमरा रहे हैं ।

§11§ समाज में नारी की स्थिति — दोनों वर्गों में — उच्च एवं निम्न — में दयनीय अतएव शोचनीय कही जा सकती है ।

§12§ ग्रामीण समाज में वृद्धों के प्रति उपेक्षा-भाव बढ़ रहा है ।

§13§ विपन्नता , शिक्षा-संसाधनों का अभाव प्रभृति के कारण ग्रामीण बच्चों की पथभ्रष्टगामिता में गुणात्मक अभिवृद्धि देखी जा सकती है ।

§14§ हिन्दू-मुस्लीम वैमनस्यता का ज़हर शनैः शनैः गांवों के निच्छल - निर्मल वातावरण को भी प्रदूषित कर रहा है ।

§15§ सर्वत्र सामाजिक-नैतिक मूल्यों की गिरावट को लक्षित किया जा सकता है ।

====== xxxxxxx ========

:: सन्दर्भानुक्रम ::

§1§ "कब तक पुकारूँ " : रांगेय राघव : पृ. 45 । §2§ वही : पृ. 205 ।
§3§ " धरती धन न अपना : पृ. 229 ।
§4§ देखिए : कहानी : माँ : प्रेमचन्द : मानसरोवर भाग-1 ।
§5§" हिन्दी उपन्यास : सामाजिक चेतना " : डा० कुवरपालसिंह : पृ.32 ।
§6§"मोडर्न रिलीजस मूवमेंट इन इण्डिया " :फर्कुहर : पृ. 5 ।
§7§ द्रष्टव्य : " हिन्दी उपन्यास : सामाजिक चेतना " : पृ. 33 ।
§8§ " सत्यार्थ प्रकाश " : आठवाँ समुल्लास : पृ. 154 ।
§9§ द्रष्टव्य : " हिन्दी उपन्यास : सामाजिक चेतना " : पृ. 34 ।
§10§ देखिए : " कुछ विचार " : प्रेमचन्द : पृ. 12 ।
§11§ अप्रकाशित देसाई-सतसई से : डा० पारूकांत देसाई ।
§12§ लेख : " भारतीय मुसलमान क्या करें ? : डा० फजलुर्रहमान फरीदी : नवभारत टाईम्स : 31 जनवरी : 1991 ।
§13§ लेख : " आज के हिन्दी उपन्यासों में चित्रित जीवन का स्वरूप और दर्शन " : आलोचना : 76 : मार्च-1986 : डा० विवेकीराय ।
§14§ "नदी फिर बह चली " : पृ. 230 ।
§15§ "हौलदार" : शैलेश मटियानी : पृ. 169 । §16§ वही: पृ. 359 ।
§17§ "काँच का आदमी " : पृथ्वीराज मोंगा : पृ. 43 ।
§18§ डा० पारूकांत देसाई : अभिव्यक्ति : पत्रिका ।
§19§ देखिए : " भारतीय सामाजिक समस्याएँ " : डा० एम.एल. गुप्ता :112 ।
§20§"अलग अलग वैतरणी " : पृ. 685 । §21§ वही : पृ. 686 ।
§22§ "साठोत्तरी हिन्दी उपन्यास " : डा० पारूकांत देसाई : पृ. 82 ।
§23§ "अलग अलग वैतरणी " : पृ. 667 ।
§24§ "पानी के प्राचीर " : डा० रामदरश मिश्र : पृ. 172 ।
§25§ "जल टूटता हुआ " :पृ. 389 । §26§ "सूखता हुआ तालाब" : पृ. 104 ।
§27§ देखिए : लेख : "रम तो लीलाछम " : डा० गुणवन्त शाह : संदेश दैनिक : दिनांक : 1-2-91 ।

§28§ " हिन्दी उपन्यास : एक अंतर्यात्रा " : पृ. 246 ।

§29§ " इट इज़ ए फेक्ट थेट इन इण्डिया एथिक्स वाज़ आल्वेज़ रिगार्डेड एज पार्ट आफ फिलोसोफी एण्ड रीलिजियन एण्ड हेन्स , इट वाज़ नेवर थोट नेसेसरी टु स्टडी इट सेपरेटली . " : एथिकल फिलोसोफी आफ इण्डिया : डा० आई.सी. शर्मा : पृ. 29 ।

§30§ सोसियोलोजी : ए सीस्टेमेटिक इनट्रडक्शन : डा. एच.एम. जोह्नसन :49 ।

§31§ " मेरे बिखरे विचार " : पंडित युगलकिशोर चतुर्वेदी : पृ. 33 ।

§32§ " मानसमाला" : डा. पारूकांत देसाई ।

§33§ " मैला आंचल " : पृ. 62-63 । §34§ राग दरबारी : पृ. 129 ।

§35§ सूखता हुआ तालाब : पृ. 104 । §36§ धरती धन न अपना : पृ. 157 ।

§37§ चौथी मुट्ठी : पृ. 14 । §38§ रेसिस एण्ड कल्चर्स आफ इण्डिया : डा. मजूमदार ।

§39§ किनशीप ओरगेनाइजेशन इन इण्डिया : श्रीमती आई. कर्वे : पृ. 1 ।

§40§ " व्हेन ए क्लास इज़ समवोट स्ट्रीक्टली हेरीडिटरी वी मे काल इट ए कास्ट : " सी.एच. कुले : सोसियल आर्गेनाइजेशन : पृ. 11 ।

§41§ " द पिपल आफ इण्डिया " : रिब्ले : पृ. 5 ।

§42§ " ओरीजीन एण्ड ग्रोथ ओफ कास्ट इन इण्डिया " : डा. एन.के. दत्ता पृ-15

§43§ सी : " कास्ट , क्लास एण्ड ओक्युपेशन " : डा. जी.एस. घुरिये पृ.26-27

§44§ चारु चन्द्रलेख : पृ. 347-348 । §45§ गोपुली गफूरन : पृ. 13 ।

§46§ नागवल्लरी : पृ. 182 ।

§47§ द्रष्टव्य : " भारतीय समाज तथा संस्कृति " : डा. एम.एल गुप्ता एवं डा. डी.डी. शर्मा : पृ . 138 ।

§48§ द्रष्टव्य : धरती धन न अपना , जल टूटता हुआ , अलग अलग वैतरणी प्रभृति उपन्यास ।

§49§ भारत का इतिहास : रोमिला थापर : पृ. 116 ।

§50§ द टाईम्स ओफ इण्डिया : 24-1-1991 : पृ. 5 ।

§51§ द्रष्टव्य : नाग वल्लरी : पृ. 102 । §52§ वही : पृ. 103 ।

§53§ वरुण के बेटे : पृ. 34 ।

§54§ "हिन्दी उपन्यासों में महाकाव्यात्मक चेतना : डा० सुषमा गुप्ता : पृ. 320 ।

§55§ नाच्यौ बहुत गोपाल : पृ. 98 ।

§56§ सी : " हिस्टरी आफ ह्युमन मैरेज " : ई. ए. वेस्टरमार्क : पृ. 59 ।

§57§ " एक टुकड़ा इतिहास " : पृ. 16 । §58§ नागवल्लरी: पृ. 25 ।

§59§ राग दरबारी : पृ. 131 । §60§ वही : पृ. 78 ।

§61§ धरती धन न अपना : पृ. 35 । §62§ वही : पृ. 57 ।

§63§ वही : पृ. 109 । §64§ वही : पृ. 167 ।

§65§ नाच्यौ बहुत गोपाल : पृ. 21 । §66§ बलचनमा : पृ. 86 ।

§67§ देखिए : नदी फिर बह चली : पृ. 230 । §68§ द्रष्टव्य : वही:पृ. 263 ।

§69§ राग दरबारी : पृ. 272-273 ।

§70§ " आंचलिक उपन्यास : संवेदना और शिल्प " : डा० ज्ञानचन्द्र गुप्तः पृ. 78-79 ।

§71§ नदी फिर बह चली : पृ. 344 । §72§ राग दरबारी : पृ. 269 ।

§73§ सूखता हुआ तालाब : पृ. 30 । §74§ वही : पृ. 36 ।

§75§ जल टूटता हुआ : पृ. 343-344 । §76§ अलग अलग वैतरणी :पृ. 131 ।

§77§ सांप और सीढ़ी : पृ. 160 । §78§ वही : पृ. 158 ।

§79§ राग दरबारी : पृ. 155 । §80§ अलग अलग वैतरणी :पृ. 4 ।

§81§ नदी फिर बह चली : पृ. 198 । §82§ मैला आंचल : पृ. 162 ।

§83§ द्रष्टव्य : "एन एबीजेड आफ लव " पृ. 195 ।

§84§ द्रष्टव्य : धरती धन न अपना ।

§85§ रतिनाथ की चाची : नागार्जुन : पृ. 172 ।

§86§ " हिन्दी लघु-उपन्यास " : डा० घनश्याम मधुप : पृ. 144-145-148 ।

§87§द्रष्टव्य : जल टूटता हुआ : पृ. 353 । §88§ सूखता हुआ तालाब ।

§89§ द्रष्टव्य : वही : पृ. 99 । §90§ राग दरबारी : पृ. 48 ।

§91§ वही : पृ. 380 । §92§ जल टूटता हुआ : पृ. 353 ।

§93§ आधागांव : पृ. 352 । §94§ वही : पृ. 352 ।

§95§ सफेद मेमने : पृ. 61 । §96§ कांचघर : पृ. 15 ।

§97§ द्रष्टव्य : वही : पृ. 84 । §98§ इण्डियन इकोनोमी : पृ. 61 ।

§99§ प्रो. डा० शिवकुमारजी मिश्र के एक भाषण से ।

§100§ राग दरबारी : पृ. *23××*×× 165 । §101§ वही : पृ. 123 ।

§102§ राग दरबारी : पृ. 123 ।

§103§ वही : पृ. 123 ।

§104§ वही : पृ. 116 ।

§105§ " सेक्स डेलिक्वेण्ट वुमन एण्ड थेयर रीहेबिलिएशन " : डा० गौरी आर. बेनरजी : पृ. 26-27 ।

§106§ द्रष्टव्य : गोपुली गफुरन : शैलेश मटियानी : पृ. 84 ।

§107§ द्रष्टव्य : आधा गांव : पृ. 248 ।

§108§ द्रष्टव्य : राग दरबारी : पृ. 55-56-57 ।

§109§ वही : पृ. 107 ।

§110§ उभरते प्रश्न : पृ. 128 ।

§111§ उग्रतारा : पृ. 37 ।

§112§ तमस : भीष्म साहनी : पृ. 122 ।

§113§ "साठोत्तरी हिन्दी उपन्यास " : डा० पारुकांत देसाई : पृ. 37 ।

§114§ काला जल : पृ. 361 ।

===== XXXXXX =====